



गुरुमत सार

दूसरा भाग

राधास्वामी सत्संग न्यास

गुरुमत सार

दूसरा भाग

गुरुमत सार

दूसरा भाग

परम सन्त श्री हुजूर महाराज
बाबा सावनसिंह जी
द्वारा कृत

राधास्वामी सत्संग ब्यास
(पञ्जाब)

सर्वाधिकार सुरक्षित हैं

प्रकाशक :

एस. एल. सोंधी

सैक्रेटरी

राधास्वामी सत्संग, ब्यास

प्रथम संस्करण	५०००	:	१९६४
द्वितीय संस्करण	५०००	:	१९७३
तृतीय संस्करण	५०००	:	१९७७
चतुर्थ संस्करण	५५००	:	१९८१
पञ्चम संस्करण	११०००	:	१९८३

मुद्रक :

जसपाल प्रिंटिंग प्रेस, कटड़ा कन्हैयाँ, अमृतसर

विषयानुक्रमिका

विषय	पृष्ठ
परमार्थ	१-८
परमार्थ के लिये तीन वस्तुओं की आवश्यकता	४
मालिक के मिलाप की पूर्ण युक्ति और उसके साधन	४
सुरत-शब्द योग के तीन साधन	६
सुमिरन	६-१२
सुमिरन अन्तर-मुख होने का सहज साधन है	१०
सुमिरन क्या है और कैसे करना चाहिये ?	११
सुमिरन का प्रयोजन	१२
ध्यान	१३-२०
ध्यान जमाने के साधन	१४
ध्यान किस का करना चाहिये ?	१६
गुरु का ध्यान किस केन्द्र पर और किस प्रकार करना चाहिये ?	१९
गुरु के ध्यान के फल	२०
धुन	२०-२५
इन साधनों के करने का समय और स्थान	२५-२७
आसन	२७
जीते जी मरना	२८-३१
सेवा	३१-३४
पूजा	३४-३७
भय	३७-३९
भाव	३९-४०
परमार्थ के साधनों के सहायक अंग	४१-४७
प्रेम की उत्पत्ति के साधन	४५
वैराग्य	४८

विषय	पृष्ठ
मुक्ति	४६
सत्संग	५०-५३
प्रार्थना	५४-६०
प्रार्थना की प्रत्येक साधक को आवश्यकता है	५५
प्रार्थना करने के लिये स्थान	५६
विवेक विचार की आवश्यकता	५८
सुरत शब्द योग में सफल होने के गुण	६३
अन्तिम विनती	६३

भूमिका

श्री हुजूर महाराज बाबा सावनसिंह जी ने अपनी ४५ साल की निस्वार्थ सेवा काल में परमार्थी जिज्ञासुओं की खोज और ज्ञान के लिए अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें दो भागों में लिखा गया 'गुरुमत सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ बहुत महत्वपूर्ण है। इसके प्रत्येक भाग के करीब एक-एक हजार पृष्ठ हैं जिनमें परमार्थ के लगभग हर एक विषय पर प्रमाण सहित लेख हैं।

प्रत्येक जिज्ञासु के पास शायद इतना समय न हो कि दो हजार पृष्ठों का अध्ययन कर सके, इसलिए इन दो भागों की भूमिकाओं को पृथक्-पृथक् पुस्तकों के रूप में अध्यात्मक-प्रेमी जनता के सम्मुख रखा जा रहा है।

इनमें संक्षिप्त रूप से महाराज जी ने संत-मत के मोटे-मोटे सिद्धान्तों पर विचार किया है। आशा है कि जिज्ञासु पाठकों को इन पुस्तकों से, जिनका नाम 'गुरुमत सार' पहला भाग और दूसरा भाग रखा गया है, लाभ पहुंचेगा। यदि प्रेमी-पाठक इन विषयों पर पूर्ण-ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो वे बड़े ग्रन्थ 'गुरुमत सिद्धान्त' के दोनों भागों का अध्ययन करके लाभ उठा सकते हैं।

संकेटरी

राधास्वामी सत्संग ब्यास,
पो. ओ. डेरा बाबा जैमलसिंह
(जिला अमृतसर)
Pin. 143204

विषय-सूची

१. आरंभ १
२. आर्य समाज की स्थापना २
३. आर्य समाज के उद्देश्य ३
४. आर्य समाज के सिद्धांत ४
५. आर्य समाज के कर्म ५
६. आर्य समाज के शिक्षा ६
७. आर्य समाज के साहित्य ७
८. आर्य समाज के संगीत ८
९. आर्य समाज के नृत्य ९
१०. आर्य समाज के खेल १०
११. आर्य समाज के व्यायाम ११
१२. आर्य समाज के योग १२
१३. आर्य समाज के ध्यान १३
१४. आर्य समाज के मंत्र १४
१५. आर्य समाज के पूजा १५
१६. आर्य समाज के व्रत १६
१७. आर्य समाज के उपवास १७
१८. आर्य समाज के दान १८
१९. आर्य समाज के सेवा १९
२०. आर्य समाज के अन्तर्गत २०

संस्करण

प्रथम संस्करण

द्वितीय संस्करण

तृतीय संस्करण

चतुर्थ संस्करण

परमार्थ

ऋषि-मुनि सन्त-महात्मा, संसार में आये और अपना-अपना उपदेश दे गये । वे मालिक के रंग में लीन होकर और उसके आनन्द के रस में झूम-झूम कर उसकी हकीकत का राज़ बता गये । जिन जीवों का उनके साथ सम्बन्ध हुआ, वे उनके उस अद्वितीय आनन्द का स्पर्श पा सके । पर उस आनन्द के राज़ से कौन वाकिफ़ (परिचित) हो सकता है ! साधारण मनुष्य बाँसुरी को सुनकर केवल उसकी धुन की मस्ती में झूम सकता है, परन्तु वह बाँसुरी को बजाने वाला नहीं हो सकता । उसका सच्चा आनन्द और रस तो बाँसुरी के बजाने से ही मिल सकता है । ऐसे अलौकिक पुरुषों के विचार ग्रन्थों-पोथियों में मिलते हैं, परन्तु उनको पढ़ कर कोई हकीकत के रस का अनुभव नहीं कर सकता । इसलिये कमाई और उनका निजी अनुभव सबसे आवश्यक है । रूहानियत लिखने-पढ़ने का विषय नहीं । यह तो कमाई और निजी अनुभव की वस्तु है । अमल (व्यवहार) से रहित इल्म (ज्ञान) किसी काम का नहीं । इससे तो वह अमल अथवा अभ्यास कहीं उत्तम है, जो किसी ज़ाहिरी इल्म के न होते हुये भी किया जाये, क्योंकि अभ्यास करने से हमारी आत्मा की गुप्त शक्ति उभर आती है । जो मनुष्य आत्मिक-विद्या की जानकारी तो प्राप्त कर लेता है, पर उसकी कमाई नहीं करता, उसकी आत्मिक-चेतना कदापि उभर नहीं सकती । इसलिये सन्तों ने अभ्यास या कमाई पर जोर दिया है । उन्होंने जहाँ कमाई या अमल पर जोर दिया है वहाँ साथ ही इल्म या सिद्धान्त के समझने को भी काफ़ी महत्व दिया है । सिद्धान्त को समझने की पूरी व्यवस्था सत्संग में की जाती है और प्रत्येक सत्य के खोजी को सत्संग करने का दृढ़ आदेश दिया जाता है, यहाँ तक कि सत्संग को कमाई की बाड़ के समान बताया गया है । सत्संग में हर प्रकार के धार्मिक विचारों के निजी पहलू की प्यार सहित छान-बीन या व्याख्या की जाती है, जिसके फल स्वरूप जिज्ञासु ग्रन्थों पोथियों को पढ़े बिना ही रूहानियत के मज़मून का आलिम (आध्यात्मिक विषयों का ज्ञाता) भी हो जाता है । इस बात पर खास

जोर दिया जाता है कि इल्म या सिद्धान्त के ज्ञान से उस सिद्धान्त का निजी अनुभव कहीं उत्तम और गुणकारी है, क्योंकि रूहानियत इल्मे-सीना (परा विद्या) है। यह बिना किसी से सीखे और बिना अमल किये प्राप्त नहीं होती। ग्रन्थों के पढ़ने से जानकारी तो हो जायेगी पर उस जानकारी से तब तक पूर्ण लाभ नहीं होगा जब तक कि अभ्यास द्वारा हमारे अन्तर में उसका निजी अनुभव नहीं हो जाता।

“यह करनी का भेद है, नहीं बुद्धि विचार ॥

बुद्धि छोड़ करनी करो, तो पावो कुछ सार ॥

(सार वचन छन्द बन्द पृ० २०७)

रूहानियत इल्मे-सीना और कमाई का विषय है। बीन, सितार, बाँसुरी आदि के बारे में पुस्तकें मौजूद हैं। पर इनको सीखने के लिये अभ्यासी उस्ताद की जरूरत है। केवल पुस्तकों के पढ़ने से ही इन साजों को बजाने में कोई भी निपुण नहीं हो सकता। इसी प्रकार आध्यात्मिक विद्या भी बिना कमाई किये और बिना किसी से सीखे प्राप्त नहीं हो सकती। धर्म-पुस्तकों या और और आध्यात्मिक पुस्तकों को पढ़ने से कुछ न कुछ बौद्धिक जानकारी तो जरूर हो जायेगी, पर हम रूहानियत के अनुभव के लाभ से वंचित रह जायेंगे। जिस मनुष्य ने कभी अग्नि को देखा ही नहीं, उसको अग्नि के विषय में पढ़ने से यह बौद्धिक-ज्ञान तो हो जावेगा कि अग्नि में प्रकाश और गरमी है, पर वह प्रकाश कैसा है, अग्नि से अन्धकार में प्रकाश कैसे होता है, उसकी गरमी से सर्दी कैसे दूर होती है, इन बातों से वह बिल्कुल अनजान रहेगा। यदि हम अग्नि को प्रकट कर लें और उसके पास बैठना शुरू कर दें, तो हमको बिना पढ़े ही अग्नि के बारे में ज्ञान होना शुरू हो जावेगा। हाँ अगर इल्म के साथ अमल भी हो, तो इल्म आमिल के गले में फूलों के हार के समान शोभायमान बन जाता है। इसलिये सन्तों महात्माओं ने अमल अथवा कमाई पर जोर दिया है। किसी साज को बजाने वाले के लिये किसी पुस्तक को हाथ लगाने की जरूरत नहीं। उसको तो केवल इतना ही करना काफी है कि वह उस साज को, जिसे कि वह सीखना चाहता है, हाथ में लें और उसके जानकार उस्ताद से सीख कर, रोज-रोज समय निकाल कर अभ्यास करे, तब वह उस साज को बजाने में निपुण हो जावेगा। इसी प्रकार, मनुष्य रूहानियत के साधनों को गुरु से समझ कर उनका अभ्यास करे और गुरु का सत्संग करता रहे तथा

उनके बताये विचारों को पल्ले बाँधता रहे। ज्यों-ज्यों वह अभ्यासी होता जावेगा, त्यों-त्यों ही वह रूहानियत का विद्वान भी होता जावेगा।

रूहानियत रूह सम्बन्धी इल्मी (बौद्धिक) और अमली (व्यवहारिक) तालीम का नाम है। वह बतलाती है कि रूह क्या है और उसका मालिक से मिलाप कैसे हो सकता है। इसे योग भी कहा जाता है, जो 'युज' धातु से निकला है और जिसका अर्थ है 'जुड़ना' अर्थात् रूह का मालिक के साथ जुड़ना अथवा मिलाप करना। सन्तों की यह शिक्षा प्राचीनकाल से चली आ रही है। सनातन से सनातन ऋषियों के वैदिक-युग में भी इसका प्रचार था, परन्तु गुप्त रीति से। शुरु में इसका अभ्यास प्राणायाम द्वारा किया जाता था जो कि अति कठिन और संकटपूर्ण था। इस अभ्यास के लिये कठोर संयम और परहेज की आवश्यकता थी। इसलिये इसमें बहुत कम लोग प्रवृत्त होते थे।

इस को 'शब्द-योग' अथवा 'सुरत-शब्द-योग' भी कहते हैं। इसके विस्तार के लिये 'गुरुमत सिद्धान्त' पहला भाग देखिये। इसकी शिक्षा का पता पतंजलि के योग सूत्रों, गोरखनाथ जी की वाणी, बौद्धों के योगाचार मत के ग्रन्थ, उपनिषदों के देवयान पंथ और यजुर्वेद के कई मंत्रों में मिलता है। यूनानी दार्शनिकों ने भी इसके संकेत दिये हैं। पारसियों के महात्मा जरदुस्त जी के ज़ंदावेस्ता नामक ग्रन्थ में इसका उल्लेख मिलता है। मुसलमान सूफ़ी इसको सौते-सरमदी शुगले नसीरा और सुल्तान-उल-अजकार कहते हैं। चिश्ती, कलंदरी और नक्शबन्दी लोग भी इसके श्रद्धालु हैं। कबीर साहिब, गुरु नानक साहिब, दादू साहिब, पलटू जी आदि की वाणियाँ तो शुद्ध रूप में केवल इसकी ही शिक्षा देती हैं। ईसाइयों में सेंट जान की अंजील की पहली आयतों में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह इल्मे-सीना (आन्तरिक-विद्या) होने के कारण—जिसका अभ्यास सब मतों में थोड़ा बहुत था—समय पाकर लुप्त होते-होते बिलकुल ही लुप्त हो गया। लोग बाहर-मुखी हो गये और बाहरी पूजा और कर्म-धर्म में ही लग गये। "गया है साँप निकल अब लकीर पीटा कर" वाला हिसाब हो गया। लोग मालिक की पहचान, उसको प्राप्त करने की पूर्ण युक्ति, उसकी कमाई और रास्ते की मंजिलों के भेद से बिलकुल अनजान रह गये।

परमार्थ के पथ पर चलने के लिये हमें सबसे पहले मालिक को पहचानने की जरूरत है। 'गुरुमत सिद्धान्त' के पहले भाग में स्वामी, हरिराय, आदि निरंजन, एकंकार, रामराय, निरंजन और काल के प्रकरणों में इस विषय का वर्णन किया गया है, पाठक जन विस्तार के लिये वहाँ से पढ़ लें। प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में ये स्वाभाविक प्रश्न उठते हैं कि (१) परमार्थ में किन चीजों की जरूरत है, (२) मालिक से मिलने की पूर्ण युक्ति क्या है और उसके कौन कौन से साधन हैं, (३) उस रास्ते पर चलने के लिये क्या-क्या आवश्यकताएँ हैं और (४) किन गुणों को धारण करने से हम कमाई करने में सफल हो सकते हैं? सब धार्मिक शिक्षाओं और शरीयतों के उपदेशों में इन्हीं प्रश्नों के उत्तर का प्रबन्ध है।

(१) परमार्थ के लिये तीन वस्तुओं की आवश्यकता है

संतों की शिक्षाओं के तीन मूल सिद्धान्त हैं (१) सतगुरु (२) सत्संग और (३) सत-शब्द। गुरु हो, पर सच्चा गुरु हो, उसके अन्तर में सच प्रकट हो। वह सच के साथ अभेद हो, उसकी संगति द्वारा 'सत्य का संग' अर्थात् सत्संग प्राप्त हो। उससे आत्मिक आनन्द का रंग चढ़ेगा और सच्चे नाम अर्थात् सत-नाम की प्राप्ति होगी। जब तक सतगुरु का मिलाप न हो इस अविद्या रूपी अन्धकार से जीव किस प्रकार निकल सकता है! जब तक वह सतगुरु का सत्संग न करे, आध्यात्मिकता का खमीर नहीं मिल सकता और न ही आन्तरिक आत्मिकता जाग्रत हो सकती है। जब तक बाहरी नौ द्वारों से हट कर सच्चे नाम अर्थात् नामी के साथ जीव का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता उसका कल्याण असम्भव है।

(२) मालिक के मिलाप की पूर्ण युक्ति और उसके साधन

सुरत मालिक का अंश है—

“कहु कबीर इहु राम की अंसु”

(गौड कबीर जी ८७१-१०)

रूह अम्रो-रब्बी (परमात्मा का अंश) है। शरीर के अन्दर यह (आत्मा) एक बड़ा कीमती जौहर है, जिसकी सत्ता के आधार पर शरीर स्थिर

है और मन तथा इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य कर रही हैं। संतों ने इसी जौहर को छाँट कर उसको अपनी जात के भण्डार के साथ मिलने का उपदेश दिया है। यदि मनुष्य की तवज्जह या ध्यान आत्मा की ओर लगे तो धीरे धीरे उसकी अवस्था बदलती जाती है और सत्यवस्तु के सामने सब जड़ पदार्थ तुच्छ प्रतीत होते चले जाते हैं। इस सच्चे और पवित्र जौहर के टिकाव का केन्द्र शरीर रूपी घर में आँखों के पीछे है, जहाँ से इसकी चेतन धाराएँ सम्पूर्ण शरीर में फैलती हुई उसको जाग्रत करती हैं और सत्ता देती हैं। इस सुरत का निज-केन्द्र आदि-शब्द है जिसके आधार पर सत-शब्द, सार-शब्द और अनहद-शब्द हैं। अनहद-शब्द का सम्बन्ध हमारे इस स्थूल शरीर के साथ है। अनहद-शब्द को पकड़ कर सुरत सहस्रार को, जो कि योगियों का निज मुक्ताम है, लाँघती हुई तीनों लोकों से परे सार-शब्द में लीन होकर, सत-शब्द में समा कर, आदि-शब्द में एक हो रहती है। त्रिलोकी तक के सब मुक्ताम प्रलय में गिर जाते हैं और सतलोक से नीचे के स्थान महा-प्रलय में विलय हो जाते हैं। जो सुरत अनहद-शब्द को पकड़ कर सार-शब्द और सत शब्द को पाती है, वह आदि-शब्द में आ समाती है। इसलिये सुरत का शब्द-मार्ग पर चलना अर्थात् सुरत-शब्द योग की साधना, वह पूर्ण युक्ति है जो सुरत के निज-मुक्ताम धुर-धाम कुल मालिक तक रसाई करने के लिये आवश्यक है। गुरु नानक साहिब फ़र्माते हैं कि भव-सागर से तरने के लिये हमारी सुरत को शब्द की कमाई करना आवश्यक है। इस कमाई के फलस्वरूप मनुष्य दुनिया में रहते हुए, इस शरीर और इस के सम्बन्धों के दोषों और मल से बेलाग और प्रभाव-रहित रहता है, जिस प्रकार कि कमल का फूल जल में उत्पन्न होता है, रहता भी जल में है, परन्तु सदैव जल से ऊँचा और निर्लेप रहता है। अथवा जिस प्रकार मुर्गाबी जल में रहती हुई भी जल का प्रभाव नहीं लेती, जब वह जल से निकल कर उड़ती है, सूखे परो से उड़ जाती है। कबीर जी आदि बहुत से सन्तों और सिक्ख पंथ के दस गुरु साहिबों ने सुरत-शब्द-योग की शिक्षा का प्रवाह चलाया।

“नानकि नामु निरंजन जान्हउ कीनी भगति प्रेम लिव लाई ॥
ता ते अंगदु अंग संगि भयो साइरु तिनि सबदु सुरति की नीव रखाई ॥”
(सवईए म० ४, १४०६—३)

यह मालिक से मिलाप की पूर्ण युक्ति है। गुरु नानक साहिब फ़रमति हैं कि वह प्रीतम संसार-सागर से पार है और हम इस पार बैठे हैं। गुरु जीव की सुरत को शब्द के साथ जोड़ कर इस भव-सागर से पार कर देता है।

“पारि साजनु आपरु प्रीतमु गुरसबद सुरति लंचावए ॥”

(तुखारी म० १, १११३—११)

यह पूर्ण युक्ति कुल मालिक के साथ मिलाप कराती है और साथ ही यह स्वाभाविक, सुगम से सुगम तथा जल्दी फल देने वाली भी है। इसके अभ्यास में प्राणायाम आदि साधनों की कठिनाईयाँ नहीं हैं, इसमें उनकी आवश्यकता ही नहीं है और न ही काम-काज, धर्म, जाति तथा घर-बार छोड़ने की आवश्यकता है। यह सारी दुनिया के लिये एक ही स्वाभाविक मार्ग है।

सुरत-शब्द योग के तीन साधन

संसार में अनेक योगी, ऋषि, बुद्ध, तीर्थङ्कर, नबी, रसूल और साध आये। जहाँ तक उनकी आत्मिक प्रगति हुई, वहाँ तक की शिक्षा वे अपने शिष्यों को दे गये। वे संसार के विभिन्न मत-मतान्तरों के संस्थापक माने गये। उनके उपदेश उनकी अपनी-अपनी धर्म-पुस्तकों में मिलते हैं। जब तक उनके श्रद्धालु उनकी शिक्षा का अन्तर्मुख अभ्यास करते रहे, तब तक उनको आत्मिक-सम्पत्ति का लाभ होता रहा। ज्यों-ज्यों वे बाहर-मुखी होते गये, वे उस यथार्थ विद्या को खो बैठे। वे बाहरी लफ़्ज़ों के आडम्बर में फँसे रह गये। ऋषियों मुनियों को समाधि अवस्था में जो ज्ञान प्राप्त हुआ, वह वेदों, उपनिषदों और शास्त्रों में लिखा हुआ है। महात्मा बुद्ध के निर्वाणपद सम्बन्धी 'प्रकाश में शब्द' के अनुभव की प्राप्ति का उल्लेख बौद्ध धर्म-पुस्तकों में मौजूद है। हज़रत मूसा को खुदा का नूर अन्तर्मुख कमाई द्वारा अपने आन्तरिक कोहेतूर पर जाहिर हुआ। रसूले करीम हज़रत मुहम्मद साहिब ने ग़ारे-हिरा में सात वर्ष तक एकान्त बैठकर अन्तर्मुख साधन द्वारा नूरी चमत्कार और बाँगे इलाही या कलमे का अनुभव किया। उनका वर्णन मुस्लिम धर्म-पुस्तकों में मिलता है। हज़रत ईसा की शब्द की तालीम, उनके निर्जन स्थानों में एकान्त अन्तर्मुख अभ्यास का परिणाम थी। इसी प्रकार हज़रत ज़रदुश्त जी का 'सरौशा' का उपदेश भी उनके अन्तर्मुख अभ्यास का फल था। गणपति गणेश के उपासक मूलचक्र के, वैष्णव और अग्नि

देवता के उपासक नाभि-चक्र के, कैलाश निवासी भगवान शिव के उपासक हृदय-चक्र के और शक्ति के उपासक कण्ठ-चक्र के आराधक हैं। योगी-जन तीसरे तिल में स्थित ज्योति निरञ्जन के पूजक हैं। इनसे बढ़कर योगीश्वर गति वाले पुरुषों के, ब्रह्म के सूर्य की उपासना के संकेत गायत्री मंत्र में मिलते हैं। हज़रत ईसा और सेण्ट जॉन, मैथ्यूज़, पीटर आदि की शिक्षा अंजील में लिखी है। पारसी मत के प्रवर्तक हज़रत ज़रदुश्त जी के आत्मिक अनुभवों का उल्लेख ज़न्द आदि ग्रन्थों में मिलता है। इसी तरह पूर्व और पश्चिम के दार्शनिकों के अपने-अपने अनुभवों का सार उनके रचे हुए ग्रन्थों में दिया गया है। इन मत-मतान्तरों की पुस्तकों में उन लोगों के रूहानियत के भेदों के इशारे दिये गये हैं। आज बीसवीं सदी के हमारे सम्मुख आध्यात्मिकता की प्राप्ति के अनेकों साधन मौजूद हैं। परन्तु कठिनाई यह है कि एक तो वे ऐसी भाषा में हैं जो साधारणतः समझ में नहीं आती और दूसरे हमारे पास उनके जो अनुवाद हैं वे विद्वानों ने केवल अपनी बुद्धि का आश्रय लेकर किये हैं। धर्म-पुस्तकों में इल्मे-सीना के गूढ़ भेदों के सम्बन्ध में दिये गये संकेतों को कोई आलिम-बा-अमल (विद्वान और अभ्यासी) ही समझ सके तो समझे, नहीं तो वे भेद गुप्त ही चले जाते हैं और चेतनामय विद्वान अभ्यासियों की व्याख्या के मोहताज रहते हैं।

उन धर्म-पुस्तकों का गहराई के साथ अध्ययन करने पर हम उनमें लिखे साधनों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक बाहिर्मुखी, जो परमार्थ के जिज्ञासुओं के लिये क, ख, ग का काम देते हैं और दूसरे अन्तर्मुखी जिनका सम्बन्ध सीधा हमारी आत्मा की उन्नति के साथ है। पहले विभाग में सब शरीरगतों के रीति-रिवाज, नमाज़, पूजा, कुरान मजीद की तिलावत (पढ़ना) तथा अन्य ग्रन्थों-पोथियों का स्वाध्याय, हज़, काबा, तीर्थ-यात्रा, व्रत ज़ाक्रात व दशमाँश, मजलिसें और सत्संग, समाअ तथा संकीर्तन, गुणगान और अनेकों कर्मकाण्ड आ जाते हैं। दूसरे विभाग में अन्तर्मुखी साधन आते हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध हमारे अन्तर के उस परम तत्त्व के साथ है जिसे वेदान्ती आत्मा या जीवात्मा कहते हैं और जिसे सूफ़ी लोग रूह कहते हैं, जो अम्ने-रब्बी (परमात्मा का अंश) है।

“अम्मे रब्बी अस्त रूह-व सिरु खुदा अस्त,
जिक्रे बेकामो बेजबां ऊ रास्त”

यह हमारे अन्तर में हमारी चेतनता है, जिसका हम अपनी आँखों के पीछे अनुभव करते हैं। इसका गुण तवज्जह या ध्यान है। संतों ने इसको सुरत कह कर वर्णन किया है। सुरत तवज्जह को कहा जाता है, इसके साथ चेतनता का सम्बन्ध है। यह हमारे शरीर के अन्दर विराजमान है और शरीर को इसी से सत्ता प्राप्त होती है। यह शरीर के अन्दर वह परम तत्त्व है जिसको हमें समझना है, जानना है और जिसको साँसारिक सम्बन्धों और बन्धनों से मुक्त करना है। यही उपदेश सब मत-मतान्तरों के प्रवर्तकों ने दिया है। उपनिषद् पुकारते हैं, “अपने आपको पहचानो।” हज़रत मसीह फ़र्माते हैं, “खुद को जानो।” पुरातन यूनानी महात्मा भी इसी के गीत गाते गये। गुरु नानक साहिब जी ने इसी पर जोर दिया है। आप फ़र्माते हैं कि जब तक हम अपने आपको नहीं पहचानते यह माया का भ्रम नहीं मिट सकता।

“जन नानक विनु आपा चीन्हे मिटै न भ्रम की काई ॥”

(घनासरी म० ९, ६८४—१८)

सन्तों ने केवल इसी परम तत्त्व का अनुभव किया है और मनुष्य को अपने मूल यथार्थ की ओर मुड़ने का उपदेश दिया है। जब तक हमारी सुरत या तवज्जह का लगाव संसार और साँसारिक पदार्थों की ओर रहता है, तब तक सुख-दुख और बन्धन बने रहते हैं। जब इसका मुँह अपनी ओर तथा अपने मूल उद्गम या निज-भण्डार (जो कि मालिक है) की ओर होता है तो यह सुख-दुख से परे हो जाती है और इसमें अपनी ज्ञात के गुण जो कि इसमें पहले से ही मौजूद हैं, उभर आते हैं।

“कहु कबीर इहु राम की अंसु”

(गौड कबीर जी, ८७१—१०)

जिस पदार्थ का अंश होता है, उसका अंशी भी हुआ करता है। जब यह सुरत, जो कि कुल मालिक का अंश है, अपने कुल की ओर मुँह करती है तो कुल का रूप बन जाती है।

तू जुज्वी हक् कुल्ले आनस्त,

अन्देशाए कुल कुनी कुल वाशी”

यह (सुरत) मन या बुद्धि नहीं है। मन और बुद्धि तो इसके उपयोग के अस्त्र हैं। साधारण दार्शनिक यहाँ आकर धोखा खाते हैं। सुरत के मालिक

के साथ मिलाप का नाम ज्ञान है। इसकी प्राप्ति के यत्न को अपना असली कार्य समझने और इसके परम तत्त्व के साथ जुड़ने का नाम भक्ति है। अन्तर्मुखी साधनों का प्रयोजन सुरत को शरीर और आसक्तियों से स्वतन्त्र करना है। ये साधन तीन विभागों में बाँटे जा सकते हैं। पहला वह जो सुरत की जबान द्वारा किया जाता है, जिसे सुमिरन कहा जाता है। दूसरा वह जो सुरत की आँखों से किया जाता है, जिसे ध्यान कहा जाता है और तीसरा वह जो सुरत के कानों से किया जाता है, जिसे श्रुति (संस्कृत भाषा में जिसके अर्थ हैं, "सुना गया"), ध्वनि या ज्ञान कहा जाता है।

सुमिरन

सुमिरन में कई प्रकार के जप और विरद आ जाते हैं। कई हाथों की उंगलियों का आधार लेकर, कई जबान के द्वारा, कई कण्ठ से, कई हृदय से और योगी-जन नाभि-चक्र पर प्राणों की हिलोर द्वारा सुमिरन करते हैं। यदि सुमिरन करते समय सुरत साथ रहे तो वह सुमिरन लाभदायक होता है। यदि माला हाथ में है, जिह्वा मुँह में फिरती रहती है और मन बाहर दौड़ता फिरता है या सुमिरन कण्ठ अथवा हृदय में होता रहता है और साथ ही साथ मन भी दौड़ता रहता है तो ऐसे साधन पूर्ण फलदायक नहीं होते।

माला तो कर मंहि फिरे, जीभ फिरे मुख माहि ॥

मनुआ तो दह दिस फिरे, यह तो सिमरण नाहि ॥

कहा करे अंगुरी गिने, मन घावे चहुँ ओर ॥

जिह फेरे स ! मि, सो भया काठ कठोर ॥

(कबीर साहिब)

माला तथा अन्य बाहरी आधारों को लेकर सुमिरन करना निचले दरजे का सुमिरन है और जबान का, कण्ठ का, और हृदय का, क्रमशः एक दूसरे से अच्छा है।

मुसलमान फ़कीर भी विरद कई तरह से करते हैं। (१) लासानी, जो जबान द्वारा किया जाता है (२) कलबी, यह दिल पर जोर देकर किया जाता है (३) 'रूही' जो तबज्जह को तीसरे तिल पर एकत्रित करके किया जाता है। इसको कलमाए-मार्फ़त या जबरूत भी कहा जाता है। (४) 'सिरी' अन्तर्मुख

भेद को पाने वाला जिसे कलमाए-हकीकत या लाहूत भी कहा जाता है।
 (५) 'खफ़ी' जो गुप्त साधन है, इसको कलमाए-हाहुत कहा जाता है।
 सिरी और खफ़ी इल्मे-सीना (पराविद्या) हैं, जो सन्तों से प्राप्त होते हैं।

ये सुमिरन किसी सीमा तक तब ही फलदायक हो सकते हैं, जबकि ये सुरत या तवज्जह के साथ किये जायें। एक महात्मा फ़रमति हैं--

“ज़िक्रे ज़बां लक् लक्, ज़िक्रे क़लव समसम, ज़िक्रे रूही राहते जाँ ॥”

माला आदि चीज़ों और ज़बान का सुमिरन अस्थायी है। सुरत की ज़बान से, आत्मा के स्थान पर बैठ कर, सुमिरन करना जिसे ज़िक्रे-रूही कहा जाता है, विशेष कर श्रेष्ठ पुरुषों का तरीका है और उनसे ही इसका बोध होता है।

सन्तों ने सुमिरन या विरद के कई साधनों में से उसके मूल आधार को मुख्य रखा है अर्थात् सुरत या तवज्जह की ज़बान द्वारा जप करने का आदेश दिया है। 'सुरत' शरीर, मन और इन्द्रियों सब को आधार देने वाली सत्ता है। इसलिये सुरत के द्वारा सुमिरन करने से शरीर, इन्द्रियाँ और मन अडोल हो जाते हैं। इसको छोड़ और जो भी सुमिरन हैं उनसे हृदय शुद्ध होता है, कुछ रस भी आता है, अन्तर्यामिता और अन्य ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ भी जाग उठती हैं, परन्तु अन्तर्मुख अडोल बैठना, अन्तर के पट का खुलना तथा अनहद की झंकार का आनन्द नहीं आ सकता और आत्मा का आत्मिक-मण्डलों पर गमन नहीं हो सकता।

“प्रभकै सिमरनि अनहद झुनकार ॥

सुख प्रभ सिमरन का अंतु न पार ॥”

(गउड़ी म. ५, २६३-१४)

सुमिरन अन्तर-मुख होने का संहज साधन है

सुमिरन जप योग का एक बड़ा महत्वपूर्ण भाग है। यदि सुमिरन तवज्जह अथवा सुरत की ज़बान के द्वारा हो, तो सुमिरन करते-करते दिल का, जिसका सुमिरन हो उसके दिल के साथ, सम्बन्ध हो जाता है। सुमिरन करने वाले के अन्तःकरण से सब ख्याल निकल जाते हैं और उनकी जगह उसका प्रीतम समा जाता। सब ओर वह ही वह प्रतीत होता है।

“कबीर तू तू करता तू हूआ मुझ महि रहा न हूँ ॥

जब आपा पर का मिटि गइआ जत देखउ तत तू ॥”

(सलोक कबीर जी, १३७५-१०)

जिस व्यक्ति के हृदय में प्रभु की याद के सिवाय और कोई विचार न रहे वही जगत में पूर्ण पुरुष है।

“कहै कबीर पूरन जग सोई ॥ जाके हिरदै अवरु न होई ॥”

(गउड़ी कबीर जी, ३३०-१)

हम इन्द्रियों के द्वारा बाहर्मुखी भटक रहे हैं। विचार कर देखें तो हमारे बाहर्मुखी होने के तीन प्रधान साधन हैं।

(१) ज़बान द्वारा बातें करके।

(२) आँखों द्वारा देख-देख कर और इशारों से हम दूसरों के संस्कार ग्रहण करते हैं और अपने संस्कार दूसरों को देते भी हैं।

(३) कानों द्वारा सुन-सुन कर।

इस प्रकार संसार के संस्कार हमारे अन्तर में प्रवेश करते रहते हैं। इन संस्कारों से बचने के लिये ज़बान पर मालिक के सुमिरन का प्रतिबन्ध लगाया जाता है, ताकि इस इन्द्रिय द्वारा मालिक की याद के संस्कार हमारे चित्त में एकत्रित होते जायें, निरन्तर दृढ़ सुमिरन द्वारा पिछले संस्कार मिट जायें और जब भी कोई विचार उठे तो उस मालिक का ही उठे। इस प्रकार सहज ही एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। यह साधन स्वाभाविक और सुगम है, जो प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। अन्तर्मुख होने के लिये अन्य साधन प्राणायाम, अष्टाङ्ग योगादि भी हैं, परन्तु वे एक तो कठिन साधन हैं और दूसरे कृत्रिम या बनावटी हैं, जिनको गृहस्थी और दुर्बल जन नहीं कर सकते।

सुमिरन क्या है और कैसे करना चाहिये ?

स्वाँस-स्वाँस मालिक को याद करने को सुमिरन कहते हैं, जिससे कि याद करने वाला मालिक में जाग उठे। किसी मालिक की याद में जाग उठे पुरुष की ज़बान से बताये गये नाम या नामों का सुमिरन करना अति फल-दायक होता है, क्योंकि उसमें सिद्धि होने के कारण जल्दी सफलता प्राप्त होती

है और आत्मिक-मण्डलों पर किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती। आत्मा को आत्मिक-मण्डलों पर सीधा रास्ता मिल जाता है।

किसी सहज आसन पर बैठ कर आँखों के पीछे दोनों भ्रुकुटियों के बीच में, आत्मा के स्थान पर स्थिर हो कर, सुरत की जबान द्वारा पूरे शौक और तत्परता के साथ सुमिरन करो। इस प्रकार सुमिरन करने से मन की चञ्चलता दूर होती है और पूर्ण एकाग्रता हो जाती है। सुमिरन, चलते फिरते, हर अवस्था में किया जा सकता है। इस के लिये काम-काज छोड़ने की आवश्यकता नहीं। तन, मन और वचन को स्थिर रख कर, अडोल हो, विधि-पूर्वक सुमिरन करना चाहिये। साथ ही सुरत और निरत को भी एकाग्र करना चाहिये। ऐसे पूर्ण रीति से किये गये एक पल के सुमिरन की बराबरी और और प्रकार से कल्प पर्यन्त तक किये गये सुमिरन भी नहीं कर सकते।

“तन थिर मन थिर बचन थिर, सुरत निरत थिर होय ॥

कहे कबीर इस पलक को, कल्प न पावे कोय ॥”

सुमिरन का प्रयोजन

सुमिरन का ध्येय हरि का दर्शन है। आत्मा अथवा सुरत को ही उसका अनुभव करना है, मन इन्द्रियों और बुद्धि से यह काम असम्भव है। पर जब तक सुरत या रूह शरीर के रोम-रोम और बाहरी पदार्थों में फँसी पड़ी है, यह हरि को देख नहीं सकती। निरन्तर विधिपूर्वक सुमिरन हमारी तबज्जह अथवा सुरत को सांसारिक पदार्थों की ओर से हटाता है। फिर सुरत को शरीर के रोम-रोम से निकाल कर, रूह के केन्द्र पर एकत्रित कर देता है अर्थात् जड़ और चेतन को पृथक् कर देता है और शरीर बिलकुल सुन्न हो जाता है। जब शरीर से चेतन पृथक् हो जाता है तो मृत्यु का काम वह अपने हाथों कर लेता है। सन्तों-महात्माओं ने इसको जीते जी मरना कहा है। पूर्णतया अन्तर्मुख हो जाने पर साधक आत्मिक नजारे देखने लग जाता है, जो कि सुमिरन द्वारा प्रकट हो जाते हैं। अभ्यासी एक प्रकार की सदा की चेतनता में जाग उठता है।

“प्रभ कै सिमरनि अनदिनु जागै ॥”

(गडड़ी म. ५, २६२-१५)

सुमिरन मालिक के महल पर चढ़ने के लिये एक प्रकार की सीढ़ी है। जो साधक इसके रस का आनन्द प्राप्त करते हैं वे प्रभु को याद करते करते एक दिन प्रभु का रूप बन जाते हैं। इसीलिये सब सन्तों-महात्माओं ने निरन्तर सुमिरन का दृढ़ता-पूर्वक आदेश दिया है।

“सासि सासि न घड़ी विसरै पलु मूरतु दिन राते ॥

(गुजरी म. ५, २४७-८)

“सिमरउ सिमरि सिमरि सुखु पावउ ॥

कलि कलेस तन माहि मिटावउ ॥”

(गुजरी म. ५, २६२-१०)

सुमिरन किस समय करना चाहिये, इससे क्या-क्या लाभ प्राप्त होते हैं, इसका अधिक विस्तार ‘गुरुमत सिद्धान्त’ भाग २ में सुमिरन और जप-तप के प्रकरणों में किया गया है।

ध्यान

जिसका सुमिरन किया जाय, उसका ध्यान अवश्य साथ आता है। हम एक को दूसरे से अलग नहीं कर सकते। हम ध्यान के बिना रह नहीं सकते। जब भी हम आँखें बन्द करके बैठते हैं तो बाल-बच्चों के, घर-बार के, कारोबार के, नगरों, देशों, समुद्रों आदि सांसारिक पदार्थों के दृश्य हमारे सम्मुख आने लग जाते हैं। या तो हम उनका सुमिरन करते रहते हैं या उनका ध्यान। सुमिरन और ध्यान दोनों ही के द्वारा संसार हमारे अन्दर बसता रहता है। सुरत की सुमिरन-शक्ति को मालिक के सुमिरन में लगाओ और सुरत की आँखों से उसको देखने का प्रयास करो।

मनुष्य के अन्तर में दो शक्तियाँ हैं, एक सुरत और दूसरी निरत। ये दोनों ही आत्मा के दो रूप हैं। सुरत का काम सुमिरन करना और सुनना है तथा निरत का काम देखना या ध्यान करना है।

“जेता पेखनु तेता धिमानु ॥”

(गुजरी म. ५, २३६-१९)

दृष्टि को समेटने से ध्यान बनता है और तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति होती है।

“ततु गिमानु लाई धिमानु दृष्टि समेटिमा ॥

(गुजरी वार म. ५, ५२०-१७)

नाम को जपने की युक्ति की दूसरी सीढ़ी 'ध्यान' है, जो सुमिरन की गूढ़ अवस्था का नाम है। यह अवस्था सुमिरन के परिपक्व होने पर उत्पन्न होती है।

“प्रभ कै सिमरनि गिघानु धिघानु ततु बुधि ॥”

(गुडड़ी म. ५, २६२-१८)

सुमिरन के साधन से आत्मा का सिमटाव दोनों आँखों के पीछे दसवीं गली में हो जाता है और ध्यान द्वारा आत्मा को आन्तरिक मण्डलों पर टिकाव प्राप्त होता है। ध्यान-शक्ति को आत्मिक-मण्डलों में स्थिर करने से अनेक सूक्ष्म देश नज़र आने लग जाते हैं। निरत के खुले बिना सुरत अन्धी रहती है। निरत के बिना वह कहाँ जा सकती है ?

“निरत बिना सुरत आंधरी कहो कहां को जाइ ॥”

(कवीर साहिब)

रूहानी सफ़र में आगे आगे निरत जाती है और पीछे पीछे सुरत। निरत रूपी सखी को अगुआ बना कर मनुष्य की सुरत शब्द में समा जाती है।

“निरत सखी को अगुआ करके पल पल शब्द समाती ॥”

(सार वचन व-३५, श-२०, क-४)

“निरत सखी अगुआ हुई जा शब्द समाया ॥”

(सार वचन व-४१, श-३, क-७)

ध्यान करना जीव का स्वाभाविक गुण है। कछुओं और कूँजों का ध्यान प्रसिद्ध है। ध्यान-शक्ति के द्वारा वे दूर रह कर अपने अंडों को पकाते हैं।

ध्यान जमाने के साधन

ध्यान को टिकाने के अनेकों साधन प्रचलित हैं। हिन्दुओं में त्राटक-कर्म ध्यान का ही साधन है, जिसमें दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर अथवा सूर्य पर जमाना होता है। कई लोग मूर्ति बना कर या महात्माओं के चित्रों पर ध्यान जमाते हैं। कई लोग अक्षरों का और कई तत्त्वों के रंगों का ध्यान करते हैं। रोमन कैथोलिक और पारसी लोग क्रमशः हज़रत मसीह साहिब और ज़रदुश्त जी के चित्रों पर ध्यान जमाते हैं। मुसलमान फ़कीरों में भी ध्यान को पक्का करने के लिये कई साधन मौजूद हैं जो नज़री या बसरी कहे जाते हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध नज़र के साथ है। इन साधनों को वे शुगल कहते हैं, जिनमें से निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं :-

(१) शुगले-आफ़ताबी-इसमें दृष्टि को चढ़ते सूर्य पर जमाना होता है। यह शरद-ऋतु में किया जाता है। यह हिन्दुओं का त्राटक-ध्यान है।

(२) शुगले-मईयत या शुगले-मन्सूरी-इसमें ज़मीन पर सीधे लेट कर अर्थात् पीठ के बल लम्बे लेटकर, मुंह ऊपर की ओर करके और शरीर को ढीला छोड़ कर अन्तर-दृष्टि को दोनों भ्रुकुटियों के पीछे जमाना पड़ता है। इसको योगियों ने शवासन कहा है।

(३) शुगले-बर्जखे-अकबर-इसमें हब्से-दम (प्राणायाम) करके तीसरे तिल पर निरत को एकाग्र करना पड़ता है। यह त्रिकुटी के ध्यान के समान है और पद्मासन पर बैठ कर किया जाता है।

(४) शुगले-बर्जखे-कबीर-इसमें निरत को अन्दर और बाहर मुश्दि के स्वरूप पर स्थिर किया जाता है। इसमें परमार्थ के अलौकिक लाभ प्राप्त होते हैं और गुप्त भेद प्रकट होते हैं।

(५) शुगले इस्मे-जात-इसमें कल्बे-सनोबरी पर ध्यान को जमाते हैं। जिसके कारण साधक अपने आप में जज़ब अर्थात् लीन होता है।

(६) शुगले आईना-इसमें एक शीशे के सामने रख कर उसमें अपनी आँख की पुतली को एकटक देखना पड़ता है। इसमें आँखों की पुतलियाँ अन्तर्मुख उलट जाती हैं और नुक्ताए-सवैदा या तीसरे तिल में रसाई होती है।

(७) शुगले तीम ख्वाबी-इसमें आँखों को लगातार खुला रखने का अभ्यास करना पड़ता है, ताकि निद्रा का जोर न चल सके। इसको करने से निद्रा में भी अर्ध-जाग्रति की अवस्था रहती है।

(८) शुगले बसाइत-इस में नुक्ताए-सवैदा पर आन्तरिक स्वरूप और निरत को ठहराना पड़ता है।

(९) शुगले मुक्कामन महमूदन व सुलतानन नसीरा-इसमें नज़र को नासिका के अग्रभाग पर जमाकर धीरे-धीरे दृष्टि को नासिका की जड़ तक ले जाया जाता है और फिर तवज्जह को अन्तर्मुख करके सूक्ष्म देश में प्रवेश किया जाता है। इसको योगी-जन त्राटक कर्म या चाचरी मुद्रा कहते हैं और गीता में भी इसका उल्लेख है।

इन शुगलों या अभ्यासों को करने की रीति किसी आमिल मुशिद से ही सीखी जा सकती है। मालिक को हमने देखा नहीं। वह मुशिद में प्रकट है। इस लिये बर्जखे-कबीर का शुगल, ध्यान को पकाने के लिये सब से अच्छा है। इस ध्यान के अन्तर्मुख स्थिर हो जाने पर वह ऊपरी मण्डलों में हमारा सहायक होता है और सदा शिष्य के अंग-संग रहता है।

“चू पीरत दर दिलत नशीनद,
हाले अज़ल-ब अ़बद ब-वीनद”

बाकी के शुगल हमारी सूक्ष्म देश तक ही रसाई कर सकते हैं, उससे परे नहीं।

ध्यान किसका करना चाहिये ?

हमारे जीवन का प्रयोजन मालिक को देखना है। उसका सुमिरन और उसी का ध्यान करना है। पर उसको हमने देखा नहीं, जिसको देखा नहीं उसका ध्यान कैसे हो सकता है ?

“बिनु पेखं कहु कैसे धिआनु ॥”

(भैरव म. ५, ११४०-१६)

जिसका हमको ध्यान करना है वह खण्डों-ब्रह्मण्डों के पार है। जब हम ने मालिक को देखा ही नहीं तो किसका ध्यान करें ? मालिक का रूप शब्द है, जो बे-ज़बानी की ज़बान (मूक भाषा) में है। जिस पवित्र हृदय में उसका वास है और जिसकी आत्मा रूपी बूंद परमात्मा रूपी समुद्र में अभेद हो चुकी है, वह वाहिगुरु में है और वाहिगुरु उस में समाया हुआ है। वह देहधारी शब्द हो चुका है और वह हमारे बीच रहता है।

ऐसा महान् व्यक्तित्व, सतगुरु, हमारे ध्यान करने योग्य है, क्योंकि उसमें पाँच तत्त्व पूर्ण हैं। मनुष्य सर्वश्रेष्ठ योनि है। सतगुरु मानव-जाति में सबसे श्रेष्ठ है। इसको छोड़ शेष जो भी सृष्टि की पैदाइश पीपल, तुलसी आदि जिनमें एक तत्त्व, साँप आदि जिनमें दो तत्त्व, गरुड़ादि जिनमें तीन तत्त्व और गौ आदि जिनमें चार तत्त्व, प्रकट हैं, मनुष्य योनि से नीचे हैं। इनमें से किसी का भी ध्यान या पूजा करना नीचे की ओर जाना है। अतएव, सब सन्तों-महात्माओं ने गुरु के ध्यान को सफलता का साधन बतलाया है।

“सफल भरति परसउ संतन की इहै धिआना धरना ॥”

(देवगंधारी म. ५, ५३१-१०)

साध-सन्तों का स्वरूप साक्षात् अकाल मूर्ति है, वह ध्यान करने के लिये सर्वोत्तम है और सबसे अधिक फलदायक है।

“अकाल मूर्ति है साध संतन की ठाहर नीकी धिआन कउ ॥”

(सारंग म. ५, १२०८-७)

संतगुरु में सत का ज़हूर (प्रकाश) है। वह सत्य का स्वरूप है। इस लिये उसको ध्यान का मूल समझो।

“सतिगुर सति सरूप है धिआन मूल गुर मूरत जाणै ॥”

(भाई गुरदास)

साध-सन्तों की देह वह दर्पण है जिसमें मालिक झलकें देता है। मालिक अलख है। जो उसको देखना चाहे वह उसे सन्तों में ही देख सकता है।

“अकाल पुरख की आरसी साधों की है देह ॥

लंखा जो चाहे अलख को इनही माहि लख लेह ॥”

(कबीर साहिब)

गुरु रामदास जी तो यहाँ तक फ़मति हैं कि जो लोग गुरु की पूजा और सेवा करते हैं, वे मेरे हरि प्रभु को भाते हैं। हरि की सेवा संतगुरु को पूजना है। वह अपनी कृपा द्वारा ऐसे जीवों को भवसागर से तार लेता है। ध्यान का मूल तो एक मालिक है अथवा मालिक-परिपूर्ण अर्थात् नाम या शब्द के साथ लगना और उसको सुनना है, या उस हस्ती का ध्यान है जिस में कि वह प्रकट है। पहला ध्यान तो असम्भव है, क्योंकि अभी तक हमने उसको देखा नहीं। दूसरा, बिना गुरु के हाथ नहीं आता, इसलिये सबसे पहले गुरु का ध्यान जरूरी है, क्योंकि हम उस को देख सकते हैं। जब तक सुमिरन द्वारा अन्तर में गुरुदेव का नूरी स्वरूप प्रकट नहीं हो जाता, तब तक हमें बाहरी स्वरूप के ध्यान की आवश्यकता है। गुरु का यह नूरी स्वरूप शिष्य को खण्डों-ब्रह्माण्डों पर ले चलता है। उसकी ऊपरी मण्डलों पर बड़ी शान और प्रतिष्ठा है। वह सबका स्वामी है। उसका प्रकाश सूक्ष्म देशों में दूर-दूर तक जाता है। जब तक गुरु स्थूल शरीर में बैठा है, वह नहीं कहता कि मैं गुरु हूँ और न ही वह कहता है कि मेरा ध्यान करो। दर्पण की सतह निर्मल होती है। हमारे हृदय की रश्मियाँ दर्पण से टकरा कर हमारा अपना रूप दिखाती हैं। यदि हंस कर देखें तो हंसता चेहरा दिखाई देगा, यदि रो कर देखें तो

रोता। दर्पण यह नहीं कहता कि मुझे देखो। इसी प्रकार गुरु को शिष्य के ध्यान की आवश्यकता नहीं, इसमें तो शिष्य का अपना लाभ है।

ध्यान-योग में तीन प्रकार के ध्यान आ जाते हैं—

(१) गुरु के स्वरूप का स्थूल ध्यान है।

(२) अन्तर में आत्मा के स्थान पर निरत को स्थिर करने पर अन्दर दीपक की ज्योति के समान प्रकाश प्रकट हो जाता है, यह सूक्ष्म ध्यान है।

(३) आकाश-गंगा या शशमाल चक्र के ऊपर, जिसको देवों और पितरों का मार्ग कहते हैं, गुरु का नूरी स्वरूप आ जाता है, जोकि सूक्ष्म, कारण और उससे भी ऊपर तक शिष्य के साथ रहता है। यह शिष्य को ले जाकर मालिक के साथ अभेद करता है।

जिस प्रकार किसी महल पर चढ़ने के लिये सीढ़ियों की जरूरत होती है और उन पर चढ़े बिना महल के ऊपर नहीं पहुँच सकते, उसी प्रकार गुरु के ध्यान के बिना हम हरि तक नहीं पहुँच सकते।

“विनु पउड़ी गड़ि किउ चड़उ गुरहरि धिग्रान निहाल ॥”

(सिरी रागु म. १, १७-१३)

सदेह प्रत्यक्ष गुरु के ध्यान द्वारा ही यह सब गुण प्राप्त हो सकते हैं।

महात्माओं के चित्रों से यह काम नहीं हो सकता। तुलसी साहिब फ़र्माते हैं कि कल्पवृक्ष का चित्र बना कर उसके आगे चाहे हजारों विनतियाँ करें, उससे कुछ प्राप्त नहीं हो सकता। तस्वीर का ध्यान करने से उसके कागज़ और फ़रेम अन्तर में आ जाते हैं, जो स्वयं जड़ वस्तुएँ हैं, वे चेतन को कैसे खींच सकती हैं? चेतन को तो चेतन ही खींच सकता है।

“कलप वृक्ष के चित्र लख कीनै विनय हज़ार ॥

बित न पावैं ताहि सिउ तुलसी करे विचार ॥”

(तुलसी साहिब)

जब गुरु का नूरी स्वरूप अन्तर में प्रकट हो जाता है तो शिष्य को उसमें ध्यान स्थिर करना पड़ता है और अपने आपको उसमें लीन कर देना पड़ता है, यहाँ तक कि यह सुघ ही न रहे कि वह मैं हूँ या मैं वह हूँ। शम्स तबरेज़ साहिब फ़र्माते हैं कि मैं तू हो गया, और तू मैं बन गया। मैं तन बन गया

और तू मेरी जान बन गया और अब कोई यह नहीं कह सकता कि मैं और तू दो हैं।

“मन तू शुद्ध मन शुद्धी, मन तन शुद्ध मन तन शुद्धी ॥
ता कस नगोयद बाद अर्जुनी मन दीगरम तू दीगरी ॥”

जब ध्यान पूर्ण हो जाता है तो उपासक उपास्य और उपासना की जो त्रिपुटी है, नहीं रहती। पूज्य और पुजारी मिलकर एक हो जाते हैं। गुरु अमरदास जी फ़र्माते हैं कि अपने आप को छोड़कर गुरु में समा जाओ।

“नानक आपु छोडि गुर माहि समावै ॥”

(गूजरी म. ३, ५०९-१३)

इस अवस्था का मुसलमान फ़कीर फ़ना फ़िश्शैख़ (शेख़ या मुशिद में समा जाना) होना कहते हैं। गुरु फ़नाफ़िल्लाह (प्रभु में लीन) है। जो शिष्य फ़नाफ़िश्शैख़ होता है, उसमें अपने आप ही ईश्वर का निवास हो जाता है। गुरु उस परमात्मा की देह है। जो शिष्य गुरुमुख बन जाता है उसके अन्तर में अनायास ही परमात्मा आ निवास करता है।

गुरु का ध्यान किस केन्द्र पर और किस प्रकार करना चाहिये ?

सत्संग में अथवा जब दर्शन का समय मिले तो छोटे बच्चे के समान एक-टक हो, बिना पलक झपके, गुरु के मनोहर मुख को, उसके कमल-नयनों और मस्तक को एक-चित्त हो देखते हुए गुरु का बाहरी ध्यान करो। उस समय अन्तर में और कोई विचार उत्पन्न न हों। इस ध्यान से हमारे अन्तर में अनायास ही उनके जीवन का प्रबल प्रभाव पड़ेगा। यह परमार्थ में उन्नति करने का श्री गणेश है।

“गुरु का निरख आँख और माथा ॥

सत का नूर रहे जिस साथा ॥”

गुरु का अन्तर्मुख ध्यान सुरत के स्थान पर स्थित हो कर निरत द्वारा किया जाता है।

गुरु देहधारी पवित्रता है और किसी अपवित्र हृदय में उसका वास नहीं हो सकता। ध्यान-योग के लिये हृदय की शुद्धता और पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है। गुरु का सुन्दर स्वरूप, शुद्ध और पवित्र आँखों द्वारा ही देखा जा सकता है। शुद्ध और पवित्र होकर उसको शौक और जौक (लगन) के साथ देखो, जिस तरह मुसलमान लोग ईद के चाँद की ओर चाव से देखते

हैं। सन्चे मालिक का नूरी स्वरूप देखना हर आँख का काम नहीं। यह किसी विरले बड़भागी को ही प्राप्त होता है।

“रूवश बचश्मे-पाक तवाँ-दीद चूँ हलाल,
हर दीदा जाए जल्वाए आँ माहे-पारा नेस्त”

(हाफ़िज़)

गुरु के ध्यान के फल

गुरु के ध्यान से अनेकों फल प्राप्त होते हैं। गुरु की आन्तरिक भावनाएं और दैवी गुण शिष्य के अन्तर में प्रवेश करते हैं। पातंजलि जी योगसूत्रों में फ़र्मति हैं कि सांसारिक मोह से रहित पुरुषों का ध्यान करने से मन को स्थिरता प्राप्त होती है।

“वीतराग विषयं वाचिन्त ॥ यथाभिमत ध्याना विधा ॥”

गुरु के अन्तर में मालिक की याद बस रही है और वह आत्मिक मण्डलों पर गमन करने वाला होता है। उसका ध्यान शिष्य के अन्तर में मालिक की याद को प्रबल बना देता है और आत्मिक मण्डलों पर गमन करने के योग्य बना देता है। इन गुणों के कारण सब महात्मा गुरु का ध्यान करते आये हैं और करते हैं।

धुन

परमार्थ में सुमिरन और ध्यान के अनेक साधन प्रचलित हैं। इनमें किसी महात्मा द्वारा बताये गये सिद्धि-सम्पन्न सुमिरन की विशेषता है। ध्यान के अनेक साधनों में से गुरु या मुर्शिद का ध्यान सब से उत्तम है। जब सुमिरन के पूर्ण होने पर, अन्तर्मुख ध्यान प्रकट हो जाय, तो उस (ध्यान) के परिपक्व होने पर धुन जाग उठती है। इसको सन्तों की बोली में भजन कहा जाता है। इस धुन को अन्तर में सुरत के द्वारा सुनना पड़ता है। इसको शब्द योग अथवा सुरत-शब्द योग का अभ्यास भी कहते हैं।

जीव-जन्तुओं को आकर्षित करने के लिये दो शक्तियाँ हैं, रूप और ध्वनि इन दोनों में से ध्वनि में खींचने की शक्ति अधिक प्रबल है। बाजे की आवाज़ पर मोहित होकर हिरन अपना मुँह उस पर जा रखता है और पकड़ा जाता है। ध्वनि का प्रभाव सर्पादि पर भी होता है। बीन की आवाज़ पर मस्त होकर सर्प अपना सिर रख देता है। मनुष्य पर इसका प्रभाव और भी अधिक है। मनुष्य का मन आनन्द में मग्न होकर झूमने लग जाता है।

प्रत्येक मत में ध्वनि अथवा कीर्तन का साधन प्रचलित है। पुरातन ऋषियों में आरती की प्रथा थी। अब भी हिन्दू मन्दिरों में आरती के समय हरिकीर्तन और नृत्य के साथ, घंटे और शङ्ख बजाये जाते हैं। सिक्खों में कीर्तन की विशेष प्रथा है। इसी प्रकार इसाईयों के गिरजों में घंटा बजता है और मधुर स्वरों और रागों में गीत गाये जाते हैं। बौद्धों के मन्दिरों में घंटे रखे होते हैं। मुसलमान सूफ़ियों में कव्वाली और समाज (गीत सुनने) का बड़ा शौक है।

भाई गुरदास जी फ़र्मति हैं कि जब तक 'नाद वाद' (बाहरी रागों) में सुरत फँस रही है, वह आन्तरिक सच्ची आवाज़ या अनहद की ध्वनि को नहीं सुन सकती।

“जउ लउ नाद वाद न अनाहद विसेखीअ ॥”

(कवित सवैये न. ४)

बाहरी आवाज़ों पर मोहित होकर मनुष्य हिरन के समान अज्ञान में जकड़ा रहता है और अन्तर्मुख 'शब्द बेधी' नहीं कहा जा सकता।

“जउ पै नाद वाद सुनि मृग-आन ज्ञान राचै
प्राण सुख होइ शब्द बेदी न कहावई ॥”

(कवित सवैये नं. ४१२)

“नाद वाद परै अनहत लिव लावई ॥”

(कवित सवैये नं. ७, ३)

गुरवाणी में स्पष्टता पूर्वक कहा गया है कि जब तक मनुष्य 'राग नाद' को नहीं छोड़ता उसको दरगाह में मान नहीं मिलता।

“राग नाद छोडि हरि सेवीऐ ता दरगह पाईऐ मानु ॥”

(बिलावल बार म. ४, ८४९-७)

वास्तविक ध्वनि हाथों और पैरों के बिना बजाई जाती है, जो बाहरी बाजों और सातों स्वरों से परे है।

“कर बिनु वाजा पग बिनु ताला ॥ जे सबदु बूझै ता सचु निहाला ॥

(आसा म. १, ४१२-११)

आमिलों अथवा अभ्यासियों की कमी के कारण साधारण जन बाहरी

शब्द में ही रह गये। बाहरी शब्द फैली हुई सुरत को इकट्ठा करने में किसी हद तक सहायक होता है। बाहरी शब्द या आवाज हमें खींचती है। सूक्तियों में कव्वाली और अन्य धर्म-स्थानों में कीर्तन अथवा बाजे-गाजे से सुरत आत्मिक-मण्डलों पर जा नहीं सकती। इससे जीव त्रैगुणों में ही फँसा रहता है और मनुष्य-जन्म निष्फल ही चला जाता है। आन्तरिक रमे हुए नाम के कीर्तन द्वारा ही जीव त्रिगुणातीत होता है और उसका सच्चा कल्याण होता है। गुरुवाणी बतलाती है कि शब्द-धुन मनुष्य-मात्र के अन्दर निरन्तर हो रही है, जिसको 'अखण्ड कीर्तन' कहा गया है।

“अखंड कीरतनु तिनि भोजनु चूरा ॥
कहु नानक जिसु सतिगुरु पूरा ॥”

(गउड़ी म. ५, २३६-१३)

इसीलिये, सन्तों ने बाहरी धुनों के सेवन और उनकी मस्ती में नृत्यकारी को स्वीकार नहीं किया है। मुसलमान फ़कीरों ने भी बाहरी रागों-नादों को छोड़कर आन्तरिक रूहानी आवाजों को सुनने पर जोर दिया है और कहा है कि अफ़सोस! तू जिस्म की क़ैद में बँधा पड़ा है उस रहमान की पाक आवाज को नहीं सुनता।

“हैफ़्र दर बन्दे जिस्म दरमानी, नशनवी सौते पाके रहमानी”

गुरु साहिबों ने नाम या शब्द के कीर्तन को ही ईश्वर-प्राप्ति का साधन माना है। यह मस्तक पर अन्तर्मुख प्रकट होता है।

“तेरे दुआरे धुनि सहज की माथै मेरे दगाई ॥”

(रामकली कबीर जी, ९७०-१)

कलियुग में और कोई साधन मान्य नहीं।

“कल कीरति सबदु पछानु ॥ एहा भगति चूकै अभिमानु ॥”

(आसा म. ३, ४२४-१)

“कलजुग महि कीरतनु परधाना ॥ गुरुमुखि जपीऐ लाइ धिआना ॥”

(मारू म. ५, १०७५-१९)

वास्तविक ज्ञान और ध्यान धुन का अभ्यास है।

“गिआनु धिआनु धुनि जाणीऐ अकथु कहावै सोइ ॥”

(सिरी रागु म. १, ५९-७)

यह, शान्ति और सुख प्रदान करने वाली धुन, साधु संगति द्वारा प्राप्त होती है। इस रमे हुए नाम के कीर्तन की पूंजी परमात्मा ने साधु के पास रखी है। जो उनके वचनों को सत्य कह कर मानते हैं, उनके अन्तर में यह प्रकट हो जाती है।

“सांति सूख सहज धुनि उपजी साधू संगि निवासा जीउ ॥”

(माक म. ५, १०५-१३)

“राम नाम कीरतन रतन बथु हरि साधु पासि रखीजै ॥

जो बचनु गुरु सति सति करि मानै तिसु आगै काढि धरीजै ॥”

(कलियान म. ४, १३२६-१४)

साधक को यह धुन पिंड के छः चक्रों से ऊपर आने पर मिलती है।

“खटु मटु देही मनु बैरागी ॥ सुरति सबहु धुनि अंतरि जागी ॥”

(रामकली म. १, ९०३-१७)

“तिरे दुआरै धुनि सहज को माथै मेरे दगाई ॥

(रामकली कबीर, ९७०-१)

यह धुन यद्यपि घट-घट में हो रही है, पर सुनाई नहीं देती। इसको सुनने के लिये दीक्षित होकर अन्तर्मुख अभ्यास करना पड़ता है। यह केवल गुरुमुखों के भाग्य की वस्तु है। इस धुन को सुनने से अनेकों फल प्राप्त होते हैं। बाहरी राग और नाद के श्रवण से मन जाग उठता है और आत्मा सो जाती है। इस अन्तरी धुन के द्वारा जन्म-जन्मान्तरों की सोई हुई आत्मा जाग उठती है और मन सो जाता है। मन को वश में करने का शब्द और धुन के सिवाय और कोई इलाज नहीं। वह धुन के रस को पाकर स्थिर हो जाता है।

सुरत की ज़बान द्वारा सुमिरन, सुरत की आँखों द्वारा ध्यान को स्थिर करना और सुरत के कानों द्वारा शब्द अथवा नाम की धुन को सुनना ही सब साधनों का सार है, जो सहज से सहज और शीघ्र फल देने वाला है। इसे बच्चा, बूढ़ा, जवान बिना किसी कठिनाई के कर सकता है। ये तीनों साधन शरीर के नौ द्वारों को छोड़ कर दसवीं गली में, आँखों के पीछे रूह के स्थान पर अर्थात् आज्ञा-चक्र पर किये जाते हैं।

योगी-जन सबसे पहले अष्टांग-योग की क्रिया को साधते हुए, शारीरिक पवित्रता के लिये ‘शौच’ का साधन करते हैं। वे नेती घोंति, वस्ति, न्योली,

गज और वज्रोली कर्म करते हैं। फिर पूरक (स्वांस को अन्दर भरना), कुम्भक (स्वांस रोक कर रखना) और रेचक (स्वांस बाहर निकालना) अर्थात् प्राणायाम द्वारा स्वांसों का संयम करते हैं। फिर मूल-चक्र अर्थात् गणेश के स्थान पर जाप करके, सब ऋद्धियों-सिद्धियों को प्राप्त कर, इन्द्रिय-चक्र (ब्रह्मा और सावित्री अथवा मैकाईल का स्थान), नाभि-चक्र (विष्णु या जिब्राईल का स्थान), हृदय-चक्र (शिव जी का स्थान), और कण्ठ-चक्र (शक्ति का स्थान) को साध कर कंज-कमल (आँखों के पीछे, आज्ञा-चक्र) पर पहुँचते हैं। वहाँ अनहद-शब्द को पकड़ कर सहस्रार में लीन होते हैं। पिण्ड के निचले पाँच चक्र आज्ञा-चक्र से सत्ता लेते हैं। मनुष्य जागृतावस्था में आँखों के पीछे रहता है। सन्तों ने नेती, धोति, वस्ति आदि क्रियाओं को और स्वांसों के संयम को स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि ये कठिन और हानिप्रद साधन हैं। निचले पाँच चक्रों (मूल-चक्र, इन्द्रिय चक्र, नाभि-चक्र, हृदय चक्र और कण्ठ-चक्र) को सिद्ध करने की आवश्यकता भी नहीं मानी है। शम्स तबरेज़ साहिब ने इन चक्रों का 'गोरे तन' (कब्र) कह कर वर्णन किया।

“माखिर चिह्न बाशद यक शबे
अज्ज जां वरआरी या रबे
बेरूँ जही अज्ज गोरे-तन
अन्दर रबी दर साइते” (शम्स तबरेज़)

अर्थात् “क्या ही अच्छा हो कि एक रात हम अपनी जान को जिस्म की कब्र से बाहर निकाल लें और ऊपरी मण्डलों पर आ जावें।” सन्तों ने इनको जानबूझ कर छोड़ दिया है, क्योंकि अगर कोई किसी मकान के बीच की छत पर बैठा हो तो उसे नीचे उतर कर, फिर उसी स्थान पर आने में समय क्यों नष्ट करना चाहिये! सन्तों का मार्ग आँखों के पीछे तीसरे तिल से शुरू होता है। इसलिये उन्होंने बाहर ले जाने वाली तीन प्रबल इन्द्रियों को रोकने का उपदेश दिया है (अर्थात्, जबान पर सुमिरन का, आँखों पर ध्यान का और कानों पर आन्तरिक शब्द सुनने का प्रतिबन्ध लगा दिया है)।

“कान आँख मुँह बन्द कराओ। अनहद भींगा सबद सुनाओ ॥”

(कबीर साहिब)

“चश्म बन्दो गोश बन्दो लब बःबन्द,

गर न बीनी सिरें हक बर-मन बखन्द ॥”

ताकि सुरत अन्तर्मुख अपने केन्द्र पर, जो आँखों के पीछे है, सिमट कर आ जाये और अनहद को पकड़ ले तथा आँखों के दोनों तिलों की सत्ता को समेट कर, एकतार करके, आन्तरिक मण्डलों के नजारे, पंच-रंग फुलवाड़ी, तारा-मण्डल, चन्द्र, सूर्य को देखती हुई वहाँ के शब्द घंटे और शंख की धुन के आधार पर सहस्रदल-कमल में (जिसे योगी जन सहस्रार कहते हैं). पहुँच जाये। उससे आगे त्रिकुटी, दशमद्वार, भँवरगुफा* के स्थानों के शब्द सुनती हुई और उन स्थानों के अलौकिक प्रकाशवान दृश्य देखती हुई, त्रिलोकी के पार, सत्तलोक या मुक्कामे-हक तक रसाई प्राप्त कर सके। फिर अलख, अगम और स्वामी या कुल-मालिक के धाम तक रसाई कर ले।

इन साधनों के करने का समय और स्थान

मालिक की भक्ति के सब ही समय हैं, जिस समय भी कोई करे अच्छा है। पर सवेरे का समय, जिसको गुरुवाणी में अमृत-वेला कहा गया है, विशेषकर लाभदायक है। मनुष्य दिन भर काम करने के पश्चात् शाम को थक जाता है और रात में नींद ले कर शारीरिक थकान दूर कर प्रातःकाल ताजा और सचेत हो जाता है। अमृत-वेला एक पहर रात रहने पर या रात के तीन बजे से शुरू होता है। रात्रि के तीन बजे से प्रातःकाल तक का किया साधन अधिक फलदायक है। गुरु नानक साहिब फ्रमति हैं कि सच्चे नाम के साथ जुड़ने और मालिक के गुणों का चिन्तन करने के लिये शुभ समय अमृत वेला है।

“अमृत वेला सचु नाउ वडिआई वीचार॥”

(जपुजी २—७)

इस वेला के अति गुणकारी होने का कारण यह भी है कि निद्रावस्था में रूह, शरीर से सिमट कर कण्ठ या नाभि में एकत्र हो जाती है और सुबह जागने पर इस शरीर रूपी कपड़े को फिर धारण कर लेती है। यदि उस समय फिर से पिण्ड को छोड़ने या आत्मा के सिमटाव का साधन किया जाये तो आत्मा शरीर को आसानी से छोड़ सकती है। वैसे भी अमृत-वेला में विशेष गुण यह है कि सूर्योदय से पूर्व मन की वृत्तियाँ एकाग्र रहती हैं। इस समय

*इन रूहानी मण्डलों के शब्दों और प्रकाशों का हाल सन्त-जन शिष्यों को दीक्षा देते समय खोल कर समझा देते हैं।

का बोया हुआ नाम का बीज फलता-फूलता है, कभी घटता नहीं और लोक-परलोक में यह कमाई सफल होती है।

“हरि धनु अमृत वेलै वतै का बोजिआ,
भगत खाइ खरचि रहे निखटै नाहि॥
हलति पलति हरि धन की भगता कउ मिली वडिआई॥”

(सूही म. ४, ७३४-४)

भगवद्गीता में भी श्री कृष्ण जी यही फ़र्मति हैं—

“या निशा सर्वं भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
तस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥”

(२-६९)

अर्थात्, जिस अमृत-वेला को साधारण मनुष्य रात समझ कर गहरी निद्रा के झोंके लेते हैं, उस समय संयमी (परमात्मा का भक्त) जागता है और जिसको दिन समझ कर साधारण लोग जागते हैं, उसको संयमी मुनि-जन रात मानते हैं।

अमृत-वेला में मालिक की ओर से विशेष कर कृपा की धाराएं आती हैं। जो मनुष्य इस वेला में नहीं उठते, वे जीते हुए भी मृत हैं और जो सिर इस समय में मालिक की भक्ति में नहीं झुकता, वह काट देने योग्य है।

“फरीदा पिछली राति न जागिओहि जीवदड़ो मुइओहि॥”

(सलोक फरीद जी, १३८३-१५)

“उठु फरीदा उजू साजि सुबह निवाज गुजारि॥

जो सिर साईं न निवै सो सिर कपि उतारि॥”

(सलोक फरीद जी, १३८१-१३)

गुरुमुखों के जीवन का यही क्रम होता है कि वे रात्रि के पिछले पहर में जाग उठते हैं और मालिक के भजन के रस का आनन्द लेते हैं। मनुष्य के लिये रात्रि के पिछले पहर की नींद हराम है। मुसलमान फ़कीर भी फ़र्मति हैं कि ए इन्सान! तू प्रभात के समय जाग उठ, सुख-भरे बिस्तरे को त्याग और किसी एकान्त स्थान पर सचेत होकर मालिक की याद में बैठ। मनुष्य हजारों रातें दुनिया की हिंस (लोभ) और हवस (लालसा) पूरी करने में खो देता है। क्या कभी किसी ने रात परमात्मा की याद में बिताई है? रात को जागना या कम सोना महात्माओं की साधारण जीवन-क्रिया रही है। उन्होंने

जो कुछ पाया रात में ही पाया। इसलिये ऐ इन्सान ! तू भी उस मालिक की याद में जाग और सुमरिन, ध्यान और धुन के साधन में लग। इनके अभ्यास से रूह को तरो ताजगी मिलती है और दिल व दिमाग भी प्रफुल्ल होते हैं। कोई थकान नहीं रहती। फरीद साहिब फ़रमति हैं कि रात को नाम रूपी कस्तूरी बाँटी जाती है। जो लोग ऐसे समय में नींद के प्यारे होने के कारण खुरटि भरते रहते हैं, वे इस लाभ से वंचित रह जाते हैं।

“फरीदा राति कथूरी बंडीऐ सुतिआ मिलै न भाउ ॥

जिम्हा नैण नीद्रावले तिन्हा मिलणु कुआउ ॥”

(सलोक फरीद जी, १३८२-२)

रात के समय अद्वितीय रस भरा गम्भीर ए कान्त होता है; जो एक दरिया के समान है जिसमें रूहानियत के अनगिनत रत्न भरे पड़े हैं। जो रात को जागता है, वह उनसे मालामाल हो जाता है। उस समय नाम और कीर्त्तन की अलौकिक धुनें साधकों को बिना दाम सुनाई देती हैं। हाफ़िज़ साहिब भी यही फ़रमति हैं कि सवेरे की इबादत और रात भर मालिक के वियोग की आहें परमार्थ के खजाने को पाने की कुंजी है।

आसन

ये साधन किस बैठक या आसन पर बैठ कर किये जायें? बैठने के लिये अनेकों आसनों का हठ योग में उल्लेख है, जिनमें से चौरासी प्रसिद्ध हैं। ये कई प्रकार से किये जाते हैं। खड़े होकर, ज़मीन पर लेट कर, उलटे होकर अर्थात् सिर नीचे और पैर ऊपर करके। ये आसन काफ़ी कठिन हैं। इनके अपने अपने फल हैं। सन्त जन हठ-योग के कठिन आसनों को अभ्यास के लिये आवश्यक नहीं समझते। हमें देखना है कि वह सरल से सरल आसन कौन सा है जो कि प्रत्येक गृहस्थी, बच्चा, बूढ़ा और जवान बिना परिश्रम के कर सके।

आत्मिक साधन के लिये पहले हमको सचेत होने की आवश्यकता है। इसके लिये साधक स्नान अथवा पंच-स्नान (दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँह धोना) कर ले। फिर फ़र्श या लकड़ी के तख्तपोश पर चौकड़ी मार कर सीधा बैठ जाये ताकि मेरुदण्ड सीधा रहे, अकड़ कर न बैठे और न ही किसी चीज़

का सहारा लेकर बैठे। तात्पर्य यह है कि साधक को इस प्रकार देर तक बैठे रहने में कष्ट न हो और साधना करते समय नींद भी न आये। यह सहज आसन है जिस पर बैठ कर आत्मिक साधनों का अभ्यास किया जाता है। पहले शरीर को अडोल आसन पर स्थिर करके, फिर रूह का आसन उसकी बैठक (तीसरा तिल या नुक्ताएँ सवैदा) पर—जो दोनों आँखों के पीछे दोनों भ्रुकुटियों के मध्य में है—स्थिर किया जाता है। ऐसे आसन पर दृढ़ हो कर साधन करने से मन की सब कल्पनाएँ मिट जाती हैं।

“मनु दिङ् करि आसणि बैसु जोगी ता तेरी कल्पणा जाई ॥”

(रामकली म. ३, १०८-१४)

इस आसन हर बैठ कर सुमिरन का साधन करने से आत्मा, जो शरीर के रोम-रोम में रची हुई है, सिमट कर आँखों के पीछे आ जाती है और जड़ से चेतन अलग हो जाता है। फिर अन्तर्मुख ध्यान का आसन करो। ध्यान के प्रकट हो जाने पर उसमें अपनी तबज्जह लगा दो, इस अवस्था में नाम-धुन निश्चय-पूर्वक जाग्रत होती है। गुरु नानक साहिब फ़र्मति हैं कि जब हम ध्यान-रूप होकर आसन को दृढ़ कर लें तो सच्चे नाम में हमारी लिव लग जाती है।

“घिआन रूपि होइ आसणु पावै ॥

सचि नामि ताड़ी चितु लावै ॥”

(रामकली म. १, ८७७-१७)

जीते-जी मरना

सुरत-शब्द योग के अभ्यास से शरीर की सम्पूर्ण सत्ता आत्मा के स्थान पर—जो दोनों आँखों के पीछे है—सिमट कर, शब्द-धुन के आसरे ऊपरी मण्डलों पर आ जाती है। जब चेतन सत्ता स्थूल शरीर से अलग हो जाये तो उस अवस्था को ‘जीते-जी मरना’ कहा जाता है। जो सन्तों का उपदेश ग्रहण करके अभ्यास करते हैं वे प्रतिदिन जीते-जी मर कर, अपनी इच्छानुसार इस देश से पार सूक्ष्म मण्डलों में जाने और लौट कर वहाँ से वापिस आने का अनुभव करते हैं। सुरत-शब्द योग का अभ्यासी शरीर को उसी प्रकार छोड़ जाता है जिस प्रकार मरने के समय आत्मा शरीर को छोड़ती है। अन्तर केवल यह होता है कि मौत के समय प्राण ही साथ सिमट जाते हैं, पर इस अभ्यास में प्राणों को छोड़ा नहीं जाता और अभ्यासी शरीर के सम्बन्ध को-

जिसे अंजील में सूक्ष्म तार (सिलवर कॉर्ड) कहा है और जो मौत के समय टूट जाता है—तोड़ता नहीं। इसलिये अभ्यासी अपनी इच्छानुसार सूक्ष्म, कारण और उससे पार जहाँ तक उसकी रूह की गति होती है, आ जा सकता है और उन मण्डलों के हाल से पूर्णतया परिचित हो जाता है। इस योग की कमाई का लाभ यह है कि अभ्यासी मृत्यु के द्वार को खुशी-खुशी लाँघ कर जाता है और एक प्रकार से मृत्यु पर विजय पा लेता है। यह कोई जबानी जमा-खर्च या धर्म-पुस्तकों में लिखे-लिखाए अफ़साने नहीं हैं। इस गति का सन्तों ने अनुभव किया है और जो इसका अनुभव करना चाहे, कर सकता है।

यदि मनुष्य मृत्यु से पहले, इस युक्ति के अभ्यास द्वारा, अपनी इच्छानुसार आत्मा को समेटना सीख जाये तो मृत्यु का भय जाता रहता है। सब सन्त-महात्मा इस शिक्षा की महिमा करते हैं। दादू साहिब उपदेश देते हैं—

“दादू पहिले मर रहो, पाछे मरे सब कोइ ॥”

कुरान शरीफ़ में भी इसका उल्लेख आया है, ‘मौतु क़िबलंता मौतु’ अर्थात् मौत से पहले मरो। इसका अर्थ आत्मघात करना नहीं है। साधारण मृत्यु के समय सब लोग बेबसी की अवस्था में इस देह को त्याग कर ऊपरी मण्डलों पर जाते हैं। परन्तु, गुरु नानक साहिब इस बात पर जोर देते हैं कि जहाँ मर कर जाना है, वहाँ जीते-जी मर कर जाओ और ऐसे योग की कमाई करो, जिससे मौत की घाटी को जीते-जी पार कर सको।

“मुइआ जितु घरि जाईऐ तितु जीवदिआ मरु मरि ॥”

(सिरी रागु म. १, २१-१)

“नानक जीवतिआ मरि रहीऐ ऐसा जोगु कमाईऐ ॥”

(सूही म. १, ७३०-१६)

यह जीते-जी मरने की युक्ति ऐसी नहीं जिससे मनुष्य क्रब्र या इमशान में पहुँच जाये। जिस मरने से दुनिया डरती है और जीना चाहती है, अभ्यासी, गुरु-कृपा द्वारा और इस युक्ति की कमाई के प्रताप से, जीवन मरण को समान रूप में देखता है और ऐसे मरण द्वारा अमर-जीवन को प्राप्त होता है।

“मरणे ते जगतु डरं जीविआ लोडें सभु कोइ ॥

गुर परसादी जीवतु मरे हुकमै बूझै सोइ ॥

नानक ऐसी मरनी जो मरे ता सद जीवणु होइ ॥”

(बिहागड़ा वार म. ३, ५५५-५)

ब्रह्माण्ड के नमूने पर मालिक ने मनुष्य को तीन प्रकार के शरीर प्रदान किये हैं, स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तांकि वह जब चाहे इस स्थूल शरीर में स्थूल इन्द्रियों द्वारा इस संसार में विचरण करे और जब चाहे इस देह से चेतन सत्ता को समेट कर, इस स्थूल कोट को उतार दे और सूक्ष्म देह तथा सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा सूक्ष्म देश में यात्रा कर सके। इसी प्रकार सूक्ष्म देह का कोट छोड़ कर, कारण देह और कारण इन्द्रियों द्वारा कारण देश का अनुभव कर सके। इसी प्रकार उन तीनों से पार भी जा सके। साधक इस युक्ति द्वारा आत्मा को समेट कर ऊपरी देशों का पूरे होश में अनुभव कर सकता है।

हमें स्थूल देह को छोड़ने से डरना नहीं चाहिये, क्योंकि हमारे पास इसके सिवाय और शरीर भी हैं। मौलाना रूम साहिब फ़र्माते हैं—

“आं तुई के: बे बदन दारी बदन'
पस मतर्स अज्ज जिस्म-जां बेरुँ शुदन”

इस मौत के दरवाजे से पार जाने का और इस प्रकार मौत पर विजय प्राप्त करने का साधन सतगुरु बतलाते हैं, जिससे साधक सचमुच मौत के दरवाजे को लाँघ कर उससे पार के देशों की यात्रा करता है और वापिस इस देह में प्रवेश करता है। इस तरह करता हुआ वह जाग्रत रहता है और उन देशों में जो जो नज़ारे देखता है, उन्हें याद रखता है। इस प्रकार की मृत्यु के बारे के ‘पूल्टार्क’ कहते हैं कि मौत के समय रूह वे नज़ारे देखती है जो एक अभ्यासी आत्मा, सतगुरु द्वारा दीक्षित होकर, ऊपरी मण्डलों में प्रवेश करके देखती है।

रूह चेतन है, उसका धाम अधर में है, जहाँ यह धर (दुनिया) नहीं। जब तक जीते-जी यह सच्चा मरना नसीब नहीं होता, जन्म-मरण समाप्त नहीं होता।

जीवित-मृतक की गति गुरुमुख होने पर, सतगुरु से प्राप्त होती है। इसके द्वारा वह अपने आप को पहचानता है और उसका मन मान जाता है।

“गुरुमुखि होइ सु भउ करे अपणा आपु पछाणै ॥

गुरपरसादी जीवतु मरै ता मन ही ते मनु मानै ॥”

(सोरठि वार म. ५, ६४७-२)

जीते-जी मर कर अभ्यासी प्रभु का बोध पा लेता है और उसकी दरगाह में मान्य होता है।

“जीवत मरै बुझै प्रभ सोंइ ॥ तिसु जन करमि परापति होइ ॥”

(सूही म. ५, ७४१-८)

सेवा

ऊपर लिखी गति की प्राप्ति केवल पूरे गुरु की बख्शिष है और यह उस की सेवा से ही मिल सकती है। किसी की आज्ञा का पालन करना, उसका कभी उल्लंघन न करना और उसकी मान प्रतिष्ठा और पूजा करना, असहाय अनाथों पर दया-भाव सहित उनकी सहायता करना, सब सेवा में आ जाते हैं। सेवा करने वाला, सेवक से स्वामी बन जाता है। जो सेवा करता है वह ऐसे पद को प्राप्त कर लेता है कि एक दिन दुनिया उसकी सेवा में हाज़िर रहती है। सेवा करने वाले को सदैव मान मिलता है।

“जिनि सेविआ तिनि पाइआ मानु”

(जपुजी, २-७)

“हर कि खिदमत कर्द ऊ मखदूम शुद”

सेवा सब करनियों का सार है। जो सेवा से रहित हैं वे उसके शुभ फल की प्राप्ति कदापि नहीं कर सकते। सेवा से रहित सब भेष किसी काम के नहीं।

“जंगम जोध जती संनिआसी गुरि पूरै बीचारी ॥

बिनु सेवा फल कवहु व पावसि सेवा करणी सारी ॥”

(मारु म. १, ९९२-६)

सेवा चार प्रकार की है, तन की, धन की, मन की और सुरत की। मालिक या मालिक के रूप गुरु की सेवा मुख्य है और उसके बाद मालिक की बनाई सृष्टि की सेवा आती है। हरि के दासों के दर पर हर प्रकार की सेवा करना (पानी ढोना, पंखा झलना, चक्की पीसना, झाड़ू निकालना, आदि) निहाल होने का कारण है। संसार के राज्य, सम्पत्ति और उच्च-पद उसकी बराबरी नहीं करते। गुरु अर्जुन साहिब इस विषय पर बड़ा जोर देते हुए फ़र्माते हैं—

“पाणी पखा पीसु दास कै तब होहि निहालु ॥

राज मिलख सिकदारीआ अगनी महि जालु ॥”

(गुडडी म. ५, ८११-१५)

"तिसु गुर कउ झूलावउ पाखा ॥ महा अगनि ते हाथु दे राखा ॥
 तिसु गुर कै गृहि ढोवउ पाणी ॥ जिसु गुर ते अकल गति जाणी ॥
 तिसु गुर कै गृहि पीसउ नीत ॥ जिसु प्रसादि बैरी सभ मीत ॥"

(गउड़ी म. ५, २३९-१८)

सेवा तब ही सफल होती है जब कि वह आन्तरिक मन से की जाये ।
 तन और मन से गुरु की सेवा करने से उसके दिल के साथ अपने दिल का
 सम्बन्ध हो जायेगा । गुरु हरिनाम का पुञ्ज है, वह अचिन्त्य हमारे अन्तर
 में आ बसेगा ।

"सतिगुर की सेवा सफलु है जे को करे चितु लाइ ॥

नामु पदारथु पाईऐ अचितु वसै मनि आइ ॥"

(विहागड़े की वार म. ३, ५५२-६)

किसी ऐसे पूर्ण-पुरुष की सेवा करो जो आपकी मेहनत को व्यर्थ न
 गंवाए और अन्तर-गति को जाने । जब ऐसे महान् पुरुष का मिलाप हो तो
 उस गुरुदेव की, जो अकाल की मूर्ति है, पूजा करो ।

"घाल न भानै अंतर बिधि जानै ताकी करि मन सेवा ॥

करि पूजा होमि इहु मनुआ अकाल मूरति गुरदेवा ॥"

(सोरठि म. ५, ६१४-१२)

यदि किसी को गुरु के दर पर पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त हो जाये तो
 उसे चाहिये कि गुरु की आज्ञा को पूरे मन से स्वीकार करे, क्योंकि जिस
 ओर मन जायेगा, उस ओर ही तन भी साथ खिंचा जायेगा । मान-रहित
 होकर सदैव हरिनाम का चिन्तन करो, मन को गुरु के हाथों बेच ही दो, जो
 भी सोचो गुरु के द्वारा ही सोचो, अपनी युक्तियों और दलीलों को पूर्णतया
 त्याग दो । ऐसे सेवक के सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं । तन, मन और धन
 की सेवा से अधिक एक और सेवा भी है, इसे सुरत की सेवा कहते हैं ।
 सुरत की सेवा, सुरत का तन के रोम-रोम में से निकल कर अन्तर्मुख शब्द
 के साथ जुड़ने का नाम है । सुरत की सेवा भक्ति है, जिसके द्वारा अन्तर
 से अहं-भाव मिट जाता है ।

घर-बार, जाति और देश की सेवा अच्छी चीज है, पर यह हमारे बन्धन में फँसने का कारण बन जाती है। गुरु की सेवा सब से ऊँची और निर्मल है क्योंकि गुरु सब बन्धनों से रहित है, वह मालिक का देहधारी प्रेम है। उसकी सेवा द्वारा हम भी बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं, "मुक्ते सेवे मुक्ता होवें ॥"* और हमारे अन्तर में मालिक का सच्चा प्रेम जाग उठता है। मालिक का प्रेम होने पर, उसके उत्पन्न किये समस्त जीव-जन्तुओं के प्रति हार्दिक-प्रेम जाग उठता है और मालिक के पिता होने का भाव तथा मनुष्य-मात्र के प्रति भ्रातृ-भाव हो जाता है। सतगुरु की सेवा करने से मालिक और मालिक की उत्पन्न की हुई सृष्टि के साथ प्रेम हो जाता है। सतगुरु की सेवा से चार पदार्थ (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) सहज ही मिल जाते हैं। सब साँसारिक और परमार्थिक, कामनाएँ पूर्ण होती हैं। धन-दौलत (अर्थ), क्षमा, अहिंसा, दया, मृदुता, सत्यवादिता, तप, दान, शील, शौच आदि (धर्म के लक्षण) और मोक्ष प्राप्त हो जाते हैं।

"चारि पदार्थ जे को मागैं ॥ साध जना की सेवा लागैं ।"

(गउड़ी, म. ५, २६६-४)

गुरु सुरत या आत्मा के ज्ञान की सम्पत्ति प्रदान करता है, जो तन, मन और धन, सबसे अधिक मूल्यवान है। इसलिये ये तीनों गुरु पर न्योछावर हैं।

"तनु मनु धनु सभु सजपि गुर कउ हुकमि मनिऐ पाईऐ ॥"

(रामकली म. ३, ९१८-४)

गुरु की सेवा तथा गुरु के चरणों की शरण ही उसकी भक्ति है और हरिनाम में लीन होना है।

"गुर की सेवा गुर भगति है विरला पाए कोइ ॥"

(सिरी रागु म. ३, ६६-१८)

गुरु देहधारी शब्द होता है। इसलिये उसकी सच्ची सेवा सुरत का शब्द में लीन होना ही है और यही सब करनी का सार है।

"गुर की सेवा सबदु वीचार ॥ हउमै मारे करणी सार ॥"

(गउड़ी म. १, २२३-१४)

*(माझ म. ३, ११६-१२)

गुरु की सेवा तपों में श्रेष्ठ तप और सम्पूर्ण तपों का सार है। इसके फल-स्वरूप हरि मन में बस जाते हैं और सब दुखों का नाश हो जाता है।

“गुरु सेवा तपां सिरि तपु सारु ॥
हरि जीउ मनि वसै सभ दूख विसारण हारु ॥”

(आसा म. ३, ४२३-१३)

गुरु की सेवा उसको प्राप्त होती है जिसके धुर से पूर्ण भाग्य हों और धुर मस्तक में लिखा हो।

“गुरु की सेवा सो जनु पाए ॥ जाकउ करमि लिखिआ धुरि आए ॥”

(मलार म. ५, १२७०-१३)

गुरु की सेवा चारों युगों में मान्य रही है और वह मालिक को भाती है। सेवा के योग्य केवल दो ही हैं, एक सन्त और दूसरे राम। राम मुक्ति का दाता है, और सन्त-जन राम नाम (परिपूर्ण नाम) को जपते हैं।

“कबीर सेवा कउ दुइ भले एकु संतु इकु रामु ॥

रामु जु दाता मुक्ति की संतु जपावै नामु ॥”

(सलोक कबीर, १३७३-६)

सेवा कौन कर सकता है, यह सेवा कहाँ होती है और गुरु-सेवा के अनेकों फलों का विस्तार-पूर्वक वर्णन सेवा के प्रकरण 'गुरुमत सिद्धान्त भाग २' में किया गया है, पाठक-जन वहाँ से पढ़ सकते हैं।

पूजा

अपने से ऊँची और उत्तम हस्ती की, परमार्थ की प्राप्ति के हेतु, सेवा और आराधना करने का नाम 'पूजा' है। जहाँ भी देखें, सब मत-मतान्तरों में बाहरी पूजा की ही प्रथा प्रचलित है। सब धर्म-स्थान और धर्म-पुस्तकों आदर के योग्य हैं। उनका जितना भी मान किया जाय अच्छा है। पर उन धर्म-स्थानों में एकत्रित होकर, अपनी-अपनी धर्म पुस्तकों का प्रचार और उनके अनमोल उपदेशों को समझना और ग्रहण करना चाहिये था, परन्तु इन बातों की ओर से विमुख हो केवल उनको मस्तक टेकने और उन पर फूल चढ़ाने को ही लोग पूजा समझ रहे हैं। गुरुवाणी इसका स्पष्ट निर्णय करती है। गुरु रामदास जी फ़मति हैं कि अज्ञानी लोग जिनकी

आन्तरिक आँख नहीं खुली है, भ्रम में भूल रहे हैं। वे फूलों को तोड़ कर निर्जीव को पूजते और समाधियों की सेवा करते हैं। उनकी सब मेहनत व्यर्थ चली जाती है।

“भरमि भले अगिआनी अंधुले भमि भमि फूल तोरावे ॥

निरजीउ पूजहि मड़ा सरेवहि सभ बिरथी घाल गवावे ॥”

(मलार म. ४, १२६४-३)

आश्चर्य की बात है कि परमात्मा की बनाई हुई दस द्वारों वाली मस्जिद (शरीर)—“एक मसीत दसै दरवाजे ॥”*-में रहने वाला, इन्सान के हाथों से बनाये गये नकली मन्दिरों और मस्जिदों में दुख उठाता फिर रहा है!

“नकली मसजिद मंदरों में जाय सद अफ़सोस है ॥

कुदरती मसजिद का साकिन दुख उठाने के लिये ॥”

(तुलसी साहिब)

बाहरी मन्दिरों और मस्जिदों का मान करना मजाज़ी (बाहर-मुखी) क्रिया है। असल हक़ीक़त तो यह है कि सन्तों-महात्माओं को छोड़ और कोई सच्ची मस्जिद ही नहीं है। सन्तों के अन्तर में परमात्मा प्रकट हो चुका है। वे ही सिजदा करने और पूजने के योग्य हैं। केवल षट-कर्म, शौच, संयम और स्नान आदि करके पूजा करने से पारब्रह्म का रंग नहीं चढ़ता। मालिक का रंग, मालिक के प्रेम में रंगे हुए पुरुषों से ही चढ़ सकता है। सच्ची पूजा अन्तर्मुखी है, जो पूरे मन से हो और जो आन्तरिक प्रेम के साथ तन और मन के फूल चढ़ाने से होती है।

“अंतरि पूजा मन ते होइ ॥ एको देखं अउर न कोइ ॥”

(बसंत म. ३, ११७३-६)

“तनु मनु अरपउ पूजा चरावउ ॥ गुर परसादी निरंजनु पावउ ॥”

(गूजरी रविदास जी, ५२५-१४)

पूजा के योग्य केवल मालिक ही है। उसको छोड़ कर और-और की पूजा करने वाले आत्म-घाती हैं।

“क्रिपा निधि छोडि आन-कउ पूजहि आतम घाती हरते ॥”

(मलार म. ५, १२६७-५)

*भैरव कबीर, ११५८-८

मालिक 'नाम' या 'शब्द' है, जो सम्पूर्ण सृष्टि में परिपूर्ण है। अतः वास्तविक पूजा नाम और शब्द की कमाई है। संसार इस पूजा को छोड़ कर कुमार्ग पर जा रहा है।

"पूजा कीचें नामु धियाईऐ बिनु नावै पूज न होइ ॥"

(गुजरी म. १, ४८९-५)

"पवित पावन से जन साचे एक सबदि लिव लाई ॥

बिनु नावै होर पूज न होवी भरमि भूली लोकाई ॥"

(रामकली म. ३, ९१०-८)

मालिक दया करे तो सन्तों की सेवा मिलती है और सन्तों की कृपा द्वारा गुरुमुख सच्चे नाम का पुजारी बनता है। मनमुख इससे वंचित रह जाते हैं।

जब तक जीव उस उच्च और सूक्ष्म गति को प्राप्त नहीं होता, जिस के द्वारा वह नाम रूपी मालिक की सेवा कर सके, तब तक मालिक के अवतार सतगुरु की पूजा करनी चाहिये। जीव को चाहिये कि सतगुरु का ध्यान करे, अन्तर्मुख सुरत-शब्द की कमाई द्वारा उसको प्रकट करे और उसके नूरी स्वरूप के दर्शन करे। अभ्यासी के हृदय का सतगुरु के हृदय के साथ सम्बन्ध हो जाने पर शब्द की धुन खुलेगी। गुरु और हरि एक हैं, अतएव गुरु की पूजा हरि की पूजा है। गुरु-परमेश्वर की पूजा तन-मन से प्यार-सहित करो। यह पूजा करने से जीव भवसागर को तर जाता है।

'गुरु परमेश्वर पूजीऐ मनि तनि लाइ पिआर ॥

सतिगुरु दाता जीअ का सभसै देइ अघार ॥"

(सिरी रागु म. ५, ५२-१०)

"खत्री ब्राह्मण सुद वैसु को जापै हरि मंत्रु जपेनी ॥

गुरु सतिगुरु पारब्रह्म करि पूजहु नित सेवहु दिनसु सभ रेनी ॥"

(विलावलु म. ४, ८००-५)

गुरु रामदास जी ने तो साफ़-साफ़ कह दिया है कि जो गुरु को पूजता है वही मेरे प्रभु को भाता है। जो गुरु की पूजा है, वही हरि की पूजा है।

"जो गुरु कउ जनु पूजे सेवे सो जनु मेरे हरि प्रभ भावै ॥

हरि की सेवा सतिगुरु पूजहु करि किरपा आपि तरावै ॥"

(मलार म. ४, १२६४-१२)

बड़े उँचे भाग्य हों तो ही ऐसी दुर्लभ पूजा नसीब होती है।

“बड़े भागि पूज गुरु चरना ॥ सगल तिस्रागि पाई प्रभ सरना ॥”

(आसा म. ५, ३९५-१९)

भय

सतगुरु की पूजा करने से गुरु-भक्त के अन्तर में उनकी मान और प्रतिष्ठा उत्पन्न होती है। वह जीते-जागते सतगुरु को अपनी आँखों से देखता है और उनकी अलौकिक शक्तियों का जानकार होता जाता है। पहले तो शिष्य उनसे कई बातें छिपा कर भी रखता है, परन्तु गुरु के जानी-जान या सर्वज्ञ होने का निश्चय होने पर, अब उसके मन में उनके प्रति भय का भाव भी बन जाता है। सतगुरु के घट-घट के जानकार होने के कारण, शिष्य अपनी अवस्था को उनसे छिपा नहीं सकता। सतगुरु शिष्य की न्यूनता से परिचित हैं। वे उसकी असमर्थता को भी अच्छी तरह समझते हैं। उनके सामने शिष्य कोई दम नहीं मार सकता। उसकी आँखों में भय रहता है। मालिक सतगुरु में प्रकट है, वह सर्वव्यापी है, इसी प्रकार गुरु भी सर्वव्यापी प्रतीत होता है। जिस हस्ती के अस्तित्व या होने का दृढ़ विश्वास होता है, उसका भय बना रह सकता है। शिष्य जानता है कि घर-बार और एकान्त में, सतगुरु सर्वत्र व्याप्त हैं। वह जागता है तो सतगुरु उसको देखते हैं, रात को सोते हुए की भी वे निगरानी करते हैं वे उसके मन की तरंगों को भी जानते हैं। शिष्य अपनी कमजोरियों के कारण पाप में गिरता है। गुरु को देख कर वह बे-बसी के साथ उनके चरणों में गिर-गिर पड़ता है और अत्यन्त लज्जित होता है। वह गुरु को देख कर, अपनी कमजोरियों के कारण उनसे डरता है, उनके सामने आँखें उँची नहीं कर सकता। शिष्य हृदय से चाहता है कि गुरु उससे प्यार करें, पर वह अपनी मैली-कुचैली अवस्था के कारण लाचार है। वह प्रार्थना करता है कि हे सतगुरु! 'तुम देखत ओगुण करुं, कैसे भाऊं तोहि ?' (कबीर)। सतगुरु की आँखों में उसे कुछ और भासता है। जिसको सतगुरु मिल जायें, उसको मालिक का और अपने किये कर्मों का भय आने लग जाता है। ऐसी आत्मा शोभा पाने योग्य हो जाती है। वह अपने स्वाामी के

हुक्म को पहचानती है और उस पर फूल चढ़ाती है। यह गति परमात्मा की खांस बख्शिाश का परिणाम होती है।

परमार्थ में भय की बड़ी आवश्यकता बतलाई गई है। परमार्थ के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये भय सदैव साधक को चाबुक का काम देता है, जिसके फलस्वरूप वह शीघ्र ही अपने आपको योग्य बनाने का यत्न करता है। मनुष्य-जन्म को पाने का ध्येय मालिक की प्राप्ति है। मृत्यु के आने के समय का कोई पता नहीं, कब और किस समय आ जाये। उसके मन में यह डर है कि यदि शरीर के अन्त होने से पहले लक्ष्य की प्राप्ति न हुई तो मनुष्य-जन्म निष्फल चला जायेगा, यह उसको परमार्थ की ओर शीघ्रता-पूर्वक चलाता है। अपने आपको न जानना, शूतुर बे-मुहार (बे-नकेल का ऊँट) होकर पापों में प्रवृत्त रहना और गुरु का भय न रखना, अपने आप का घात करना है। जिसके मन में यह भय बना रहता है, वह जीते जी मरने का यत्न और नाम की कमाई द्वारा मालिक से अभेद होने का प्रयास करता है और यम आदि के भय से बच जाता है।

जिनको यह भय नहीं, उनका जन्म-मरण का भय बना रहता है। भय के बिना कोई भवसागर से पार नहीं हो सकता।

“जिना भउ तिन नाहि भउ मुचु भउ निभविआह ॥

नानक एहु पटंतरा तितु दीवाणि गइआह ॥”

(सूही वार म. २, ७८८-३)

“भै बिनु कोई न लंघसि पारि ॥ भै भउ राखिआ भाइ सवारि ॥”

(गुडड़ी म. १, १५१-५)

जिस पर मालिक दया करे, उसको दिन-रात यह भय बना रहता है और वह शब्द को मन में बसा कर सब भ्रमों को नष्ट कर देता है।

“अपनी किरपा करे सोई जनु पाए ॥ गुर का सबदु मनि बसाए ॥

अनदिनु सदा रहै भै अंदरि भै मारि भरमु चुकावणिआ ॥”

(माझ म, ३, ११३-१९)

गुरु की कृपा से ही हमारे मन में भय बसता है। अन्तर में भय के बसने से मन अपनी बेढंगी चालों को छोड़ कर, शब्द की कमाई द्वारा वश में आ जाता है।

गुर परसादि भउ पाइआ वडभागि वसिआ मनि आइ ॥
 मैं पइऐ मनु वसि होआ हउमैं सबदि जलाइ ॥”

(सोरठि वार म, ३, ६४५-१)

जब अन्तर में सतगुरु-मालिक का भय होता है तो साथ ही साथ उसकी प्रबल याद भी अन्तर में दृढ़ होती रहती है। फिर शिष्य से कोई पाप नहीं हो सकता। इस प्रकार भय से भाव (प्रेम) उत्पन्न होने लग जाता है। भाव और नाम की कमाई के प्रताप से साधक का भय दूर हो जाता है और उसका आन्तरिक अनुभव जाग उठता है। अनुभव और भय दोनों एक साथ नहीं रहते। निर्भय की याद में भय नहीं रहता।

“जह अनभउ तह भै नही जह भउ तह हरि नाहि ॥

कहिओ कबीर बिचारि कै संत सुनहु मन माहि ॥”

(सलोक कबीर जी, १३७४-४)

भाव

भय के अन्दर सतगुरु का विश्वास, श्रद्धा, प्यार, सत्कार, आदर और मान बढ़ता जाता है और उससे आदर और अदब से भरा प्रेम या भाव उत्पन्न हो जाता है। वह कभी भी मान और अदब की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। गुरुवाणी में ऐसे प्रेम पर जोर दिया गया है जिससे कि प्रीतम के सम्मान और उसकी महानता का भाव रोम रोम में बसा रहे। सब जप, तप, संयम, व्रत और स्नान ऐसी भावमय भक्ति के बिना किसी काम के नहीं।

“किआ जपु किआ तपु संजमो किआ बरतु किआ इसनानु ॥

जब लगु जुगति न जानीऐ भाउ भगति भगवान ॥”

(गउड़ी कबीर जी, ३३७-१३)

सतगुरु के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाने पर, उसकी कृपा-दृष्टि से ऐसे भाव की दात प्राप्त होती है। भाव में भय की चासनी होती है। जहाँ सतगुरु का भय है, वहीं भाव की उत्पत्ति होती है। इसलिए गुरु अंगद साहिब फ़मति हैं कि हे साधक! तू भय रूपी चरणों से (चल कर), भाव रूपी आँखों द्वारा सुरत को प्रीतम की ओर लगा दे। इस प्रकार तेरा कन्त से मिलाप हो जावेगा।

“भै के चरण कर भाव के लोइण सुरति करेइ ॥
नानक कहै सिआणीए इव कन्त मिलावा होइ ॥”

(माझ बार म. २, १३९-५)

जो आत्मा भय और भाव का शृङ्गार करती है, वह सदैव ही पति के सुख को प्राप्त करती है। यह शृङ्गार कैसे बनता है? भय की सलाइयाँ बना कर, भाव रूपी आँखों में फेरते हुए, अपने पति के साथ प्यार करके उसकी प्यारी सुहागिन बन कर यह शृङ्गार होता है।

“कहतु नानक भै भाव का करे सीगार ॥ सद ही सेजै रवै भतार ॥”

(आसा म. १, ३५७-८)

हाँ! भय का शृङ्गार करके, प्रेम-रस का ताम्बूल खाकर और भाव का भोजन करके, तन-मन कंत को सौंप दे तो आत्मा उसके रस का आनन्द प्राप्त कर सकती है।

“भउ सीगार तंबोल रसु भोजनु भाउ करेइ ॥

तनु मनु सउपे कन्त कउ तउ नानक भोगु करेइ ॥”

(सूही बार म. ३, ७८८-१०)

जब मन में किसी अलौकिक सौन्दर्य और आकर्षण-युक्त व्यक्तित्व का भय उत्पन्न हो जाये तो अन्तर में उसकी लगातार चित्ताकर्षक याद बन जाती है, जिसको भाव कहते हैं। अतएव, जब साधक के मन में भय आ जाता है तो अवश्य ही वहाँ भाव भी उत्पन्न हो जाता है। ऐसे भय के बिना सच्ची भक्ति नहीं हो सकती।

“नानक जिन्ह मनि भउ तिन्हा मनि भाउ ॥

(आसा बार म. १, ४६५-१४)

भै बिनु भगति न होवई नामि न लगै पिआर ॥”

(सूही बार म. ३, ७८८-१३)

गुरु रामदास जी तो निर्णय करते हैं कि भय के बिना किसी ने प्रेम को नहीं पाया और भय के बिना कोई भव-सागर से पार नहीं उतरा।

“बिनु भै किनै न प्रेम पाइआ बिनु भै पारि न उतरिआ कोइ ॥

(तखारी म. ४, १११६-१)

परमार्थ के साधनों के सहायक अंग

परमार्थ में पहली आवश्यक बात भक्ति, प्रेम या इश्क का होना है। ये कहने को तीन भिन्न-भिन्न नाम हैं, पर इनका रूप एक ही है। भक्ति और प्रेम के एक होते हुए भी, इनकी अवस्था में कुछ भेद है। भक्ति एक बेइख्तियार प्रवाह या आकर्षण है, जो कि मनुष्य को खींच कर अपने प्रीतम की ओर ले जाता है और प्रेम, प्रीतम तक रसाई और उसमें एक हो रहने के आनन्द का नाम है। प्रेम, प्रीतम में गहरे एकाग्रता भरे रस में जाग उठने और भक्ति के आदर्श की पूर्णता का नाम है। प्रेम, मालिक की सच्ची नमाज़ है। मस्ती के आलम की एक बार मन में माला फेरने से दिल में उसका सुमिरन और आँखों में उसका ध्यान बस जाता है। साथ ही रोम-रोम की ज़बान उसे पुकारती है और नैन रिम-झिम बरसते रहते हैं। ऐसे सुमरन और ध्यान द्वारा—इस तरीके मार्ग से—मनुष्य अपने दिल के काबे तक जल्द ही रसाई प्राप्त कर लेता है। सादे खुशक रोज़े, नमाज़ों और इबादतों, बिना आँसुओं के कोई फल नहीं दे सकतीं। साधक आँसुओं की तरी की राह से शीघ्र ही मालिक को पा लेता है। सब जप, तप, ज्ञान और ध्यान, प्रेम के बिना थोथे हैं। प्रेम से रहित साधक, मालिक के भेद की प्राप्ति से खाली रह जाते हैं और वे मालिक की सच्ची भक्ति को नहीं पा सकते। हज़ारों इबादतें करते रहो तो भी सच्चे नमाज़ी नहीं बन सकते। जिसको प्रेम का स्वाद नहीं मिला वह मालिक के रहस्यों को जानने वाला नहीं हो सकता।

“हज़ार साल इबादत कुनद नमाज़ी नेस्त,

कसे कि इश्क नदारद खुदा राज़ी नेस्त”

मालिक से मिलने के लिये अनेकों मार्गों की स्थापना हुई, जप, तप, भक्ति, वैराग्य, ज्ञान, योग आदि किन्तु, प्रेम इन सब साधनों से ऊँचा मार्ग है और वह सब साधनों का प्राण है। इन सब साधनों में केवल एक प्रेम की लाग है जो मनुष्य को मालिक तक पहुँचाने का मुख्य कारण है। जो साधन प्रेम के रंग से रहित हैं, उनसे कुछ प्राप्त नहीं हो सकता, उल्टे वे साधन रोग ही बन जाते हैं। गुरु अर्जुन साहिब फ़रमते हैं कि जप, तप, संयम, खुशियाँ, सुख, मान बढ़ाई और गर्व सब एक निमेष-मात्र के प्रेम पर न्यौछावर हैं।

“जप तप संजम हरख सुख मान महत अरु गरब ॥
मूसन निमखक प्रेम परि वारि वारि देउ सरब ॥”

(चऊबोले म. ५, १३६४-३)

वह दिल मुबारक है जो प्रीतम के विरह की अग्नि में कबाब हो रहा है, वे आँखें मुबारक हैं जो अपने प्रीतम की याद में आँसुओं के मोती बिखेर रही हैं, क्योंकि आँखों से गिरे आँसू दिल की ज़मीन पर बरस कर मालिक के रहस्यों के खुलने का मौसम पैदा कर देते हैं। जिस तरह रहमत भरी बारिश ज़मीन पर रंग-बिरंगे फूल पैदा कर देती है, इसी तरह प्रीतम की याद में डूबे नैनों के आँसू रूहानियत के फूल खिला देते हैं। इसलिये प्रेम का दरजा सब से ऊँचा है। मालिक स्वयं प्रेम हैं इसलिये उससे जल्दी से जल्दी मिलने का प्रबल माध्यम प्रेम ही है। प्रेम की प्रशंसा सब ग्रंथों-पोथियों में आई है। सब ऋषि, मुनि, पीर, पैगम्बर और अन्य सब पूर्ण-पुरुष, प्रेम के पुजारी थे। दशम गुरु साहिब भी यही फ़रमति हैं, “लोगो! मैं आप से सच-सच कहता हूँ, तुन लो कि जिन्होंने प्रेम किया उन्होंने ने प्रभु को पाया।”

“साच कहों सुनि लेहु सभै, जिन प्रेम किओ तिन ही प्रभु पाइओ ॥”

तुलसी साहिब भी यही फ़रमति हैं कि जिन्होंने प्रेम किया, उन्होंने प्रभु को पाया। प्रेम के बिना इस मार्ग में किसी को कुछ हाथ नहीं आया।

“प्रेम किया तिनही प्रभु पायो ॥ बिना प्रेम किछु हाथ न आयो ॥”

(तुलसी साहिब)

कबीर साहिब फ़रमति हैं कि योगी, यति, तपस्वी, सन्यासी और सूफी, कोई भी प्रेम के बिना निज-धाम, सतगुरु के देश में नहीं पहुँच सकते—

“योगी जंगम जीवड़ा संनिआसी दरवेश।

बिना प्रेम पहुँचे नहीं दुरलभ सतिगुर देश।”

सब साधन केवल प्रेम को जाग्रत करने के लिये ही किये जाते हैं। अगर प्रेम न हो तो सब इबादतें ख़ुशक हैं। ‘प्रेम के आने पर सब बरकतें इकट्ठी हो जाती हैं और इसके जाने पर सब बरकतें उड़ जाती हैं’ (अंजील)। ध्रुव बार कार व्यवहार या किसी भी वर्ग में प्रेम का एक कण मिला दो,

सर्वत्र सुख-चैन व्याप्त हो जाता है। मालिक और उसकी उत्पन्न की हुई सृष्टि से प्रेम करो क्योंकि सभी उसमें साँझी या हिस्सेदार हैं कोई भी दूसरा दिखाई नहीं देता।

“सभे साभीवाल सदाइनि तूं किसै न दिसहि बाहरा जीउ ॥”

(माक म. ५, ९७-८)

सब जीव-जन्तुओं के साथ हमारा ज्ञाती सम्बन्ध प्रतीत होता है। एक ही मालिक पिता है और सब उसके बच्चे हैं, सब के साथ वैसा ही व्यवहार है। प्रेम के आने पर हृदय से सब ईर्ष्या, द्वेष और घृणा के भाव दूर हो जाते हैं। प्रेम सब कुछ अर्पण कर देने का मार्ग है। यह तो हृदय-समर्पण का नाम है। प्रेम निरंतर बना रहने वाला आकर्षण है। प्रेम के प्रकट हो जाने पर फिर जीव न कभी आता है और न जाता है। वह निरन्तर उसकी एक-रस अवस्था में लीन रहता है। इस अवस्था में उतार-चढ़ाव नहीं है। आत्मा उसके रंग में आठों पहर रंगी रहती है।

“प्रेम प्रेम सब को कहे प्रेम न चीन्हे कोय।

आठ पहर भीना रहे, प्रेम कहावै सोय ॥”

यह एक प्रबल आकर्षण है जो तोड़े टूटता नहीं और छोड़े छूटता नहीं।

मू लालन सिउ प्रीति बनी ॥

तोरी न तूटै छोरी न छूटै ऐसी माधो खिच तनी ॥

(बिलावलु म. ५, ८२७-३)

प्रेम संसार का प्राण और हमारा जीवन-रस है। यह पवित्रता और सादगी की जान है। इसके बिना संसार सूना है। यह हमारे जीवन को हरा-भरा रखने वाला रस है। प्रेम कोई बनिये की दुकान नहीं, यहाँ तो शरीर, प्राण और ईमान, सब प्रीतम पर न्योछावर करने पड़ते हैं। इस मार्ग में साधक को सिर देना पड़ता है :-

“जउ तउ प्रेम खेलण का चाउ ॥ सिरु धरि तली गली मेरी आउ ॥

इतु मारणि पेरु धरीजं ॥ सिरु दीजं काणि न कीजं ॥

(सलोक म. १, १४१२-२)

प्रेम में सब हिंस-हवा (लोभ-लालच) से रहित होकर जाना पड़ता है। जो शीश की दक्षिणा दे वह प्रेम का प्याला पी सकता है।

“प्रेम पिआला जो पीए, सीस दक्षिणा देइ ॥
लोभी सीस न दे सके, नाम प्रेम का लेइ ॥”

(कबीर साहिब)

प्रेम दलीलों और तर्क-वितर्क का मार्ग नहीं। इस पथ पर तो मजनू बन कर जाना पड़ता है। जब तक हमारी बुद्धि इल्मों और हुनरों में फैली रहेगी, हम हक़ीक़त के जानकार नहीं हो सकते। तू प्रीतम की जुल्फ़ों में अपने दिल को क़ैद कर ले और अपने प्रीतम के ध्यान में मग्न हो जा, क्योंकि दलीलें प्रेमी के नुक़सान का कारण बनती हैं।

“दिल अन्दर जुल्फे लैला बन्दो कारे इश्के मजनू कुन,
कि आशक रा जियां दारद मुकालाते खिरद मन्दी।”

प्रेम दो दिलों को एकमेक कर देता है और सच्चा अद्वैतवादी बना देता है। फिर उनका अलग होना कठिन हो जाता है, जिस प्रकार कि दूध और पानी मिलकर एक-रूप हो रहते हैं। दादू साहिब फ़र्माते हैं, “सच्चे इश्क की क्या पहचान है? वह यह है कि आशिक माशूक के ध्यान में उसी का रूप बन जाये। ऐसे प्रेमियों पर मालिक भी आशिक हो जाता है।”

“आशिक माशूक हो गया, इश्क कहावे सोइ।

दादू उस माशूक का, अल्ला आशक होइ ॥”

ऐसी अवस्था सब जप, तप, व्रत और पूजा का फल है और अब उनकी ज़रूरत नहीं रहती। प्रेमी सच्चा जौहर-परस्त ही नहीं, जौहर रूप ही हो जाता है। सच्ची तन्मयता, सच्ची एकाग्रता केवल संगति द्वारा प्राप्त होती है। जो रसाई वर्षों तक अभ्यास करने से प्राप्त नहीं हो सकती, वह प्रेमी की आँखों से आँखें मिलाने से सहज ही प्राप्त हो जाती है। यह सच्चा मिलाप और योग है। परमार्थ में यही सब कुछ है। प्रेम एक ऐसा सख़र है जो हमको शरीर और शारीरिकता तथा उसके पाप व पुण्य, दोनों से ऊपर उठा कर, प्रीतम के साथ अभेद कर देता है। जो मालिक के पवित्र दर्शनों की अभिलाषा रखता है, उसको चाहिये कि वह पहले प्रेम-रूपी जल से अपने अन्तर की गन्दगी और मैल को धोकर पवित्र और स्वच्छ हो जावे।

प्रेम की उत्पत्ति के साधन

शरीरियों के रीति-रिवाज हमारे लिये दाई का काम देते हैं। उनका ध्येय मालिक के साथ प्रेम पैदा करना है। वे रीतियाँ और साधन उत्तम हैं जिनसे कि प्रेम की अग्नि भड़क उठे और उसमें मनुष्य अपना सब हस्बो-नस्ब (कुलीनता और प्रतिष्ठा) भूल जाये। गुरु रामदास जी फ़रमाते हैं कि वही जप, तप, व्रत और पूजा उत्तम है, जिससे हरि के साथ प्रीति लग जाये।

“सो जपु, सो तपु सा व्रत पूजा जितु हरि सिउ प्रीति लगाइ ॥”

(बैराड़ी म, ४, ७२०-१६)

नवधा-भक्ति (नौ प्रकार की भक्ति) की प्रणालियाँ प्रेम उत्पन्न करने के ही मुख्य साधन हैं। परमात्मा प्रेम है और आत्मा उसका अंश है। अतएव, प्रेम प्रत्येक मनुष्य में मूल रूप में उपस्थित है पर आत्मा के परदों में ढके हुए होने के कारण वह गुप्त है। यह एक प्रकार की मानवी बिजली है जो प्रकट होने पर मन के सम्पूर्ण मलिन विचारों के कूड़े-क़र्कट को भस्म कर देती है। वह आत्मा को पवित्र करके, परमार्थ के सहस्रों वर्षों में कटने वाले पथ को पल-मात्र में लंघा देती है। इसके जाग्रत होने के दो ही साधन हैं, एक तो मालिक-रूप सतगुरु की बख्शिशा और दूसरे तरीक़त (परमार्थ) की कमाई। जैसे बिजली कण-कण में व्याप्त है और उसका ज़हूर (प्रकटीकरण) विस्तार-पूर्वक बादलों में प्राकृतिक नियमानुसार होता है और दूसरे वह कृत्रिम साधनों से, बैट्री आदि द्वारा प्रकट होती है। इसी प्रकार प्रेम की सम्पत्ति, एक तो मालिक के रूप सतगुरु की बख्शिशा के द्वारा किसी जिज्ञासु के अन्तर में जाग्रत हो उठती है और दूसरे तरीक़त पर चलने अर्थात् सुमिरन या ध्यान करने और नाम को जपने से प्रकट हो जाती है। सुमिरन और ध्यान के बढ़ने पर अन्तर में श्रद्धा और प्रीति बढ़ती जाती है और उस आनन्द में लवलीनता प्राप्त होती जाती है जो कि मालिक की प्रसन्नता का कारण बनता है और जिससे उसके प्रेम का सुरूर और रंग चढ़ता है। मालिक नाम और शब्द है। मालिक प्रेम है। इसलिये नाम और शब्द भी प्रेम है।

“प्रेम पदारथु नाम है भाई माइया मोह बिनासु ॥”

(सोरठि म. ५, ६४०-३)

ज्यों-ज्यों आत्मा नाम के साथ लगती है, प्रेम अन्तर में उमड़-उमड़ कर बहता है। प्रेम किसी दुकान पर नहीं बिकता और न ही कहीं खेतों में उगता है। इसका स्रोत प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में नाम या शब्द के रूप में मौजूद है। गुरु नानक साहिब फ़रमति हैं कि नाम के बिना प्रीति-प्यार सम्भव नहीं, प्रीति-प्यार से ही सच में वास हो सकता है।

“बिनु नाम प्रीति पिआर नाहि बसहि साचि सुहेलीआ ॥”

(गउड़ी म. १, २४२-१२)

नाम सतगुरु से मिलता है, वे नाम का रूप होते हैं। इसलिये प्रेम की प्राप्ति का मुख्य साधन साध-सन्त और सतगुरु का सत्संग तथा उनकी बख़्शिश है।

“जाकउ भए कृपाल प्रभ हरि हरि सेई जपात ॥

नानक प्रीति लगी तिन्ह राम सिउ भेटत साध संगत ॥”

(आसा म. ४५४-१५)

गुरु के बिना प्रीति उत्पन्न नहीं हो सकती और न ही प्रेम की सम्पत्ति मिल सकती है। विचार कर देख लो, हरि प्रेम है और हरि स्वयं गुरु में है तथा गुरु ही हरि से मिलाता है।

“बिन गुर प्रीति न ऊपजै भाई मनमुखि दूजै भाइ ॥”

(सोरठि म. ३, ६०३-१)

“बिनु गुर प्रेम न लभई जन वेखहु मति निरजासि ॥

हरि गुरं बिचि आपु रखिआ हरि मेले गुर साबासि ॥”

(मारु वार म. ५, ९९६-१३)

“सचा प्रेम पिआर गुर पूरे ते पाईऐ ॥

कबहू न होवै भंगु नानक हरि गुण गाईऐ ॥”

(सलोक म. ४, १४२२-८)

भक्ति भी गुरु के बिना नहीं हो सकती और न ही नाम के साथ प्यार हो सकता है। हम नाम को भी गुरु के अपार प्रेम द्वारा ही पा सकते हैं।

“बिनु सतिगुर भगति न होवई नामि न लगै पिआर ॥

जन नानक नामु अराधिआ गुर कै हेति पिआरि ॥”

(सलोक म. ३, १४१७-११)

प्रेम-मय भक्ति की जाग्रति का मुख्य साधन गुरु-भक्ति है, जिसके द्वारा अभ्यासी के हृदय का गुरु के हृदय के साथ सम्बन्ध होता है। गुरु का प्रेम भी हृदय में कई प्रकार से उत्पन्न होता है। एक तो दीदार (दर्शन) से दूसरे, गुफ्तार (वार्तालाप) से और तीसरे, उसकी याद और ध्यान के द्वारा। इस प्रकार, उस के उत्तम गुण और सुन्दर स्वरूप हृदय में प्रवेश कर लेते हैं और शिष्य गुरु के रूप में जागने लग जाता है। आत्मा परमात्मा का अंश होने के कारण, प्रेम प्रत्येक आत्मा में गुप्त रूप में मौजूद है। इसको जाग्रत करने के दो साधन हैं। एक तो सतगुरु की ओर से प्रेम की धारा प्रेमी आत्मा को प्रेम में मग्न कर देती है और दूसरे, आध्यात्मिकता पर चलने से कुछ-कुछ प्रेम का रंग चढ़ता है।

गुरु अर्जुन साहिब फ़रमति हैं कि दुनिया प्रेम का मार्ग नहीं जानती और गँवारों के समान भटकती फिरती है तथा मालिक को भूल कर अन्त में नरकों की भागी बनती है।

“पंथा प्रेम न जाणई भूलि फिरै गवारि ॥

नानक हरि बिसराइ कै पउदे नरकि अंधियार ॥”

(सलोक म. १४२५-१९)

प्रेम और बुद्धि, प्रेम और सौंदर्य, प्रेम और ज्ञान, प्रेम और वैराग्य, प्रेम और मोह, प्रेम और काम, इसके-मजाजी और इसके-हकीकी में क्या अन्तर है और क्या सम्बन्ध है, प्रेम कितने प्रकार का है, प्रेम का नशा, प्रेमी का स्वरूप और उसकी भावनाएं क्या होती हैं, और प्रेम के अनेकों फल, भक्ति कितने प्रकार की है, भक्ति क्यों करनी चाहिये, किस प्रकार करनी चाहिये और किसकी करनी चाहिये, भक्ति कहाँ से प्राप्त होती है, वे कौन-से साधन हैं जिनके द्वारा भक्ति विकसित होती है, गुरु-भक्ति और नाम-भक्ति किस प्रकार होती है, भक्ति से उत्पन्न हुए विरह का स्वरूप क्या है, विरह-पीड़ित प्रेमी हृदयों का विलाप और विरह क्या काम करता है। आत्मोन्नति के लिये उक्त तथ्यों का जानना अति आवश्यक है। इनके विस्तार के लिये पाठक-गण गुरुमत-सिद्धांत के दूसरे भाग में प्रेम, भक्ति और विरह के प्रकरण पढ़ें।

वैराग्य

जब प्रबल प्रेम जाग उठता है तो सम्पूर्ण सांसारिक इच्छाएँ मिट जाती हैं और विषयों का अभाव हो जाता है। लोक-परलोक के किसी पदार्थ में रुचि नहीं रहती है। इनकी ओर से चित्त के उपराम हो जाने, दुनिया और दुनिया के पदार्थों की ओर से हट कर अपने सिरजनहार करतार के वियोग में विलाप करने और उसके प्रेम में जाग उठने का नाम वैराग्य है।

“मनि बैरागु भइआ दरसनु देखनै का चाउ ॥”

(सिरी रागु म. ५, ५०-१६)

ऐसी अवस्था में संसार का मोह उड़ जाता है और संसार से उपराम होकर मालिक के प्यारों के पीछे-पीछे फिरते रहने के लिये जी चाहता है। वैरागी, प्रीतम के सिवाय और सब वस्तुओं का त्याग करके सार-तत्त्व अर्थात् परमात्मा को ग्रहण करता है। शारीरिक वस्तुओं का गुज़ारे मात्र के लिये उपयोग करना और आत्मा तथा उसको आधार देने वाली वस्तुओं को भोगना सच्चा वैराग्य है। सच्चा वैरागी संसार में रहते हुए उससे उपराम रहता है। उसको इसके त्याग की आवश्यकता नहीं। वह संसार में रहते हुए सब सांसारिक पदार्थों में मालिक का जल्वा देखता है। वैराग्य का धारण करना तो अपनी आत्मा और अन्तःकरण को संसार के पदार्थों के प्रेम से विरक्त करने का नाम है। जो लोग बग़ैर सोचे-समझे संसार से वैराग्य करते हैं, वे शान्ति नहीं पाते। ऐसे लोग फिर से संसार से आसक्त देखने में आते हैं। मनुष्य को चाहिये कि संसार में गुज़ारे मात्र के लिये प्रवृत्त हो और आत्मा को नाम, गुरु और मालिक से जोड़ कर, अपने अन्तर में दिन प्रतिदिन उनका प्यार बढ़ाता जाये। ज्यों-ज्यों उनका प्यार बढ़ता जायेगा त्यों त्यों अन्तर से दुनिया का प्यार कम होता जाएगा।

वैराग्य और त्याग में अन्तर है। वैरागी त्याग का मोहताज नहीं। वह संसार में रहते हुए भी वैरागी हो सकता है। त्यागी पुरुष वैराग्य की दौलत से खाली रह सकता है। परमार्थ की प्राप्ति के लिये वैराग्य अत्यन्त आवश्यक है। सतगुरु के मिलाप और गुरु भक्ति के प्रताप से शिष्य सहज ही सच्चे वैराग्य का धारण करने वाला बन जाता है। उसको घरबार का त्याग करने की ज़रूरत नहीं रहती। वह आत्मिक-रस का अनुभव करता

और अन्य सब रस फीके पड़ जाते हैं। चाहे वह दुनिया में रहता है, पर अन्तर में दुनिया के साथ बंधा नहीं रहता। सतगुरु शिष्य को सुरत-शब्द-योग की पूर्ण युक्ति प्रदान करके गृहस्थ में ही उदास रहने की रीति सिखा देते हैं। शिष्य संसार का कार-व्यवहार करते हुए भी मुक्ति रूपी पदार्थ को पा लेता है।

“नानक सतिगुरि भेटिया पूरी होवै जुगति ॥

हसंदिआ खेलंदिआ पेन्हंदिआ खावंदिआ विचे होवै मुक्ति ॥”

(गूजरी म० ५, ५२२—१०)

सन्तों-महात्माओं ने घरबार का त्याग नहीं किया, वे संसार का कार व्यवहार करते हुए, अन्तर में नाम के प्रताप से सच्चे वैरागी बने रहे।

शिष्य, गुरु-प्रेम के द्वारा हरि-रंग में डूबा हुआ, संसार के अतीत, सच्चे वैराग्य का भागी बन जाता है। जिसको मालिक से मिलने की प्रबल चाह है और उसकी गहरी लगन लगी हुई है, यहाँ तक कि वह उसके बिना रह नहीं सकता तथा जिसके और सब बन्धन ढीले पड़ गये हैं, ऐसे मनुष्य को वैरागी कहा जाता है।

मुक्ति

सन्त स्वयं मुक्त होते हैं। उनकी शिक्षा को धारण करके जीव मुक्ति को सहज ही पा लेता है। मुक्त पुरुषों की सेवा और ध्यान से मनुष्य मुक्त हो जाता है।

“आपि मुक्तु मुक्तु करे संसार ॥ नानक तिसु जन कउ सदा नमसकार ॥”

(गउड़ी म० ५, ९५—२)

“मुक्ते सेवे मुक्ता होवै ॥”

(माक म० ३, ११६—१२)

मुक्ति के अर्थ हैं आज्ञादी, बे तअल्लुकी। मन के, गुरु और मालिक के साथ जुड़ने से और सब रस फीके पड़ जाते हैं और उनकी ओर से मन अनासक्त हो जाता है। आसक्ति में अनासक्त होना सन्तों की सच्ची अनासक्ति और त्याग है। मुक्ति कोई कल्पित आदर्श नहीं। यह अवस्था तो प्रेम की सम्पत्ति की प्राप्ति और नाम के अभ्यास से अपने आप प्राप्त हो जाती है। मालिक के रंग में लवलीन होने से और उसके दर्शनों को पाकर तृप्ति आ जाती है और जीव को मुक्ति की चाह ही नहीं रहती।

“हरि दरसन के जन मुक्ति न मांगहि

मिलि दरसन तृप्ति मन धीजै ॥”

(कलिआन म० ४, १३२४—५)

सत्संग

साधना की सफलता और विकास के लिये सत्संग अत्यन्त आवश्यक है। मन का स्वभाव है कि जैसी संगति में वह रहता है, वैसा ही रंग पकड़ता है और उसी का रूप बन जाता है। दुनियादारों की संगति में वह दुनिया का रंग लेता है और रूहानी पुरुषों की संगति में रूहानियत का। अतएव, रूहानियत के इच्छुक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह रूहानी पुरुषों की संगति में रहे, ताकि उनका रंग उस पर चढ़े। जिस व्यक्ति में 'सत्' प्रकट है, वह सत् का रूप है। उसकी संगति में उसके जीवन की धाराएँ प्रवाहित होती हैं, जिससे आस-पास बैठे हुये लोगों पर सत् का प्रबल प्रभाव पड़ता है। वह रूहानियत में माहिर या निपुण होने के कारण हमारे लिये सच्चे गुरु और मार्गदर्शक का काम करता है। वह हमको हरि का उपदेश देकर आध्यात्मिकता के ज्ञान से मालामाल कर देता है। वह अपनी आध्यात्मिकता की धाराओं से संगत की आत्मा को उभार कर जाग्रत करता है। अपनी जीवन-धारा बख्श कर वह मालिक से बिछुड़े जीवों को मालिक से मिलाप की प्रेरणा और सामर्थ्य प्रदान करता है। जिस प्रकार फूलों की खुशबू साथ की सब चीजों को, पानी हो या मिट्टी, कपड़े हो या मकान, खुशबूदार कर देती है, इसी प्रकार नेक पुरुषों की संगति, उनकी संगति करने वालों को अपना नेक असर बख्शती है और मूढ़ लोगों की संगति, जो दुनिया में लीन पड़े हैं, उन पर अपना रंग जमाती है।

सन्तों और महात्माओं की प्रति-दिन संगति करने से हमारी आत्मा को सत्य और धर्म का रंग मिलता है। परमार्थी जिज्ञासु को चाहिये कि सन्तों के मण्डल के शान्तिदायक प्रभाव को ग्रहण करे, क्योंकि नेकों की संगति हमको नेक और बड़ों की संगति हमको बड़ कर देगी।

“सोहबते सालेह तुरा सालेह कुनद,
सोहबते ताले तुरा ताले कुनद”

किसी महापुरुष की संगति से पूर्ण लाभ की प्राप्ति के लिये चाहिये कि हम सच्चाई और शुद्ध हृदय के साथ उनके पास बैठें, ताकि उनकी

आत्मिक-धाराओं का प्रभाव प्राप्त कर सकें। यदि ऐसी संगति न मिल सके तो अकेले ही मालिक की याद में रहें और पहुँचे हुए महात्माओं के उपदेश पढ़ें।

सत्संग की बड़ी महिमा है। जो भी सत्संग में जाता है वह वहाँ के वायुमण्डल के प्रभाव को ग्रहण करता है। खरबूजे को देख कर खरबूजा रंग पकड़ता है। आध्यात्मिकता की प्रेम-भरी धाराओं से हर किसी को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अंश मिलता है। सत्संग मालिक से शीघ्र मिलाप का प्रबल साधन है। श्री मद्भागवत (स्कन्ध ११, अध्याय १२, श्लोक १-२) में भगवान् कृष्ण जी सत्संग के बारे में फ़रमाते हैं, 'हे उद्धव! न योग, न ज्ञान, न धर्म-पुस्तकों का स्वाध्याय, न तप, न त्याग, न दूसरों की सेवा, न दान, न पूजा-पाठ, न वेदों का पाठ, न तीर्थ और न मन तथा इन्द्रियों के दमन करने से जीव मुझे इतनी आसानी से पा सकते हैं जितनी आसानी से सत्संग अथवा साधु-संग द्वारा, जिससे कि हमारे दूसरे सांसारिक प्रभाव और संस्कार दूर हो जाते हैं।'

सन्तों की संगति में अमर-जीवन की प्राप्ति का बीमा हो जाता है। विद्या स्कूलों-कालेजों में मिलती है, दवाईयाँ हस्पतालों में, गरमी चूल्हों में और शीतलता वहाँ जहाँ पानी की बूंदों का भण्डार हो। इसी प्रकार, जहाँ मालिक के भक्त-जन निवास करते हैं, वहाँ मालिक भी रहता है। गुरु रामदास जी फ़रमते हैं कि सत्संग में हरि निवास करता है। वहाँ हरि के गुणों को जान सकते हों। बड़े ऊँचे भाग हों तो सत्संग को पाकर सतगुरु में भगवान् को स्पर्श कर सकते हो।

“सत संगति महि हरि हरि वसिष्ठा मिलि संगति हरि गुन जान ॥

बड़े भागि सत संगति पाई गुरु सतिगुरु परसि भगवान् ॥”

(प्रभाती म० ४, १३३५—१०)

सत्संग में भक्ति-भाव की धाराएं लहराती हैं। उनसे सबको शीतलता और भक्ति की प्रेरणा प्राप्त होती है। संसार में गहरी आग लगी हुई है, सब जीव इसमें जल रहे हैं, उनको और कुछ सूझता-बूझता नहीं।

“किञ्च न बुझै किञ्च न सुझै दुनिया गुभी भाई ॥”

(सलोक फरीद, १३७८—१)

सन्तों का सत्संग संसार-ताप में जलते हुये जीवों के लिये एक बड़ी

नियामत है। उसका सहारा लेने वाले उसका रंग लेकर भवसागर से पार हो जाते हैं। नदी नालों का पानी गंगा में मिल कर गंगा-जल बन जाता है। क़साई के घर का लोहा भी पारस के स्पर्श से सोना बन जाता है। नीम का पेड़ चंदन के पास रह कर उसकी सुगन्धि पा लेता है और जो कुछ नमक की खान में जाता है, वह नमक हो जाता है। इसी प्रकार, जो कोई सत्संग में जाता है, उस पर सत्संग का रंग आवश्य ही चढ़ जाता है। नेक या बद, सबको रूहानी तंदुरुस्ती की धाराओं की तरोताजगी मिलती है और उनके अन्दर दैवी गुण प्रवेश करते जाते हैं और सहज ही मन-इन्द्रियों पर क़ाबू पाने की ताक़त आ जाती है। मौलाना रूम साहिब फ़रमाते हैं कि यह नफ़्स (मन) बिना मुर्शिद की छत्र-छाया के कदापि नहीं मरता।

“हेच नकुशद नफ़्स रा जुज़ ज़िल्ले पीर।”

सत्संग में शुभ-विचारों की अमृत भरी धारा का पान करके नेक और बद, सब जीव रंगे जाते हैं और उसका रूप ले लेते हैं। बदबूदार शराब गंगा में गिर कर गंगा-रूप हो जाती है, उसके प्रबल प्रवाह द्वारा उसी का रूप बन जाती है। यह फल सत्संग में प्राप्त होता है।

सत्संग किसी भजन-मण्डली अथवा बाजे-गाजे के साथ गाने वालों या केवल पंडितों की संगति का नाम नहीं। यह तो किसी जागृत पुरुष की—जो मालिक में जी उठा हो—सत्-संगति का नाम है; ऐसे व्यक्तित्व की संगति का नाम ही सत्संग है। सत्संग की प्राप्ति सत्गुरु पर निर्भर है, यह केवल सत्गुरु के द्वारा ही प्रकट होता है।

“सतिगुरु बाझहु संगति न होई ॥

विनु सवदे पारु न पाए कोई ॥”

(मारु म० ३, १०६८—१५)

“पूरे गुर ते सत संगति ऊपजै सहजे सचि सुभाइ ॥”

(आसा म० ३, ४२७—६)

चेतन पुरुषों की संगति में मालिक की याद आवश्य आती है, जीव के हैवानी जीवन का अन्त हो जाता है और आत्मिक सम्बन्ध—जो कि मालिक के साथ है—आभास देने लग जाता है।

गुरुवाणी में सत्संग की विशेषता बताते हुये कहा गया है कि जहाँ नाम का उपदेश हो और केवल नाम का ही निर्णय हो, उसका नाम सत्संग है।

“सतसंगति कैसी जाणीये ॥ जियै एको नामु वखाणीये ॥”

(सिरी रागु म० १, ७२—१)

ऐसी संगति उस सतगुरु की ही हो सकती है जिसको तन-मन अर्पण करने से और जिसकी रज्जा में चलने से सहज ही हरिनाम प्रकट हो जाता है।

“सत संगति महि नामु हरि उपजै जा सतिगुर मिलै सुभाए ॥

मनु तनु अरपी आपु गवाई चला सतिगुर भाए ॥”

(सिरी रागु म० ३, ६७—१६)

सत्संग दो प्रकार का है (१) सन्तों का बाहरी सत्संग जिससे मन की सफ़ाई होती है और आध्यात्मिकता की प्रेरणा प्राप्त कर जीव परमार्थ में उन्नति करने के योग्य होता है। (२) आन्तरिक सत्संग, जिस में सुरत नाम के साथ जुड़ कर आत्मिक-मण्डलों पर चढ़ाई प्राप्त करती है। आन्तरिक सत्संग सतगुरु से दीक्षित होने पर ही प्राप्त हो सकता है।

सत्संग एक प्रकार का आत्मिक कालेज है जहाँ प्रेम और नाम के साथ जुड़ने का क्रियात्मक पाठ पढ़ाया जाता है। सत्संग एक अजीब कारखाना है जिसमें मनुष्य घड़ा जाता है और सब प्रकार के सांसारिक विकारों और मैलों से स्वच्छ करके उसको मालिक से मिलाप के योग्य बनाया जाता है। सत्संग एक उत्तम तीर्थ है, जहाँ जन्म-जन्मांतरों के करोड़ों पाप दूर हो जाते हैं और मन निर्मल हो जाता है।

“महिमा साधू संग की सुनहु मेरे मीता ॥

मैलु खोइ कोटि अघ हरे निरमल भय चीता ॥”

(बिलावलु म० ५, ८०६—१७)

अगर कोई रब्ब के साथ विसाल करना चाहता है तो वह रब्ब के प्यारों के पास बैठे। उनकी थोड़ी सी संगति वर्षों की बिना दिखावे की भक्ति से भी बढ़ कर फल देगी।

“हमनशीनी सायते ब ओलिया

बेहतर अन्न सद साला तायत बे रया”

क्योंकि उनसे आत्मिक-जीवन की जागृति प्राप्त होती है। सत्संग से अनेकों फल प्राप्त होते हैं।

प्रार्थना

रूहानियत के साधनों तथा उसके सहायक अन्य आवश्यक अंगों की प्राप्ति के लिये, मालिक या किसी समर्थ पुरुष, पीर या मुशिद से सहायता के लिये, प्रार्थना करना आवश्यक है, ताकि उनकी पूर्णता में सफलता प्राप्त हो सके। मनुष्य किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करता है। जब वह देखता है कि उसकी कोशिशें और युक्तियाँ व्यर्थ हो गई हैं और उसका कोई पुरुषार्थ सफलता की प्राप्ति न कर सका, तो वह निराश होकर हार बैठता है। हकीकत को जानकर पुरुष किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करता है, पर मालिक को सब कारणों का कारण समझते हुए, सब फलों को उसके अर्पण करके सब कुछ उस पर छोड़ देता है कि जो कुछ मालिक उसके लिये ठीक समझे करे, क्योंकि हमारे लिये क्या ठीक है यह मालिक ही जानता है और यदि नतीजा उसकी इच्छा के अनुसार हो जाये तो मालिक का कृतज्ञ होता है। यदि उसकी इच्छा के विरुद्ध भी हो जाये तो उसको प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है। पद पद पर वह मालिक से सहायता का याचक बना रहता है, क्योंकि कई ऐसे सामान हैं जो हमारे प्रयत्नों और पुरुषार्थ से परे होते हैं। इस सहायता के माँगने को प्रार्थना या अरदास कहते हैं।

मालिक सम्पूर्ण शक्तियों का भण्डार है और हमारा हृदय उसके रहने का स्थान है, उस ओर ध्यान करने से मनुष्य में शक्ति आती है। उस शक्ति को पाकर उसमें मुसीबत से छूटने का उपाय सूझ जाता है और साथ ही सब, सन्तोष, धैर्य, मुसीबत को सहने का बल और साहस आ जाता है। आत्मा मालिक का अंश है, उसमें बड़ा भारी बल है। प्रार्थना के समय, चित्त की वृत्तियों के एकाग्र हो जाने पर मनुष्य उस बल से लाभ उठाता है। जो सयाने पुरुष आत्मिक मदद से वाकिफ़ हैं, वे अपने अन्तर में प्रवेश करके अरदास करते हैं और मालिक की दया-भरी धारा से लाभ उठाते हैं अन्य लोग बाहर मन्दिरों-मस्जिदों में जाकर हाथ पसारते हैं। इनको मन की एकाग्रता और विश्वास के अनुसार फल मिलता है।

प्रार्थना एक विश्वव्यापी भावना है। जब मनुष्य अपने अन्दर अपनी आवश्यकता को पूरा करने की काफ़ी ताकत नहीं पाता तो वह किसी

शक्तिशाली हस्ती की—जिसमें वह ताक़त समझता है—सहायता चाहता है। जब कोई विपत्ति आ जाये, दुश्मन प्रबल हो जाये या कोई ऐसी कठिनाई आ जाये जिस को हल करने की युक्ति दिखाई न दे, तो वह मालिक से अथवा उन हस्तियों से जो कि मालिक से जुड़ी हुई हैं, इन क्लेशों से बचने के लिये सहायता माँगता है। इसको प्रार्थना कहा जाता है। सब धर्मों में यह बताया गया है कि मुर्शिद या मालिक से प्रार्थना अथवा अरदास द्वारा ही सब आत्मिक पूर्णताएं प्राप्त की जा सकती हैं। प्रार्थना ही बन्दे को मालिक से मिलाने का सबसे अच्छा, सीधा और स्वाभाविक मार्ग है।

प्रार्थना की प्रत्येक साधक को आवश्यकता है

प्रार्थना की साधक को आवश्यकता है, जब तक कि मालिक को नहीं पा लेता। प्रार्थना से शारीरिक, धार्मिक, कौमी, मुल्की, सब आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। इससे मन-इन्द्रियों के विकारों से बचने में मदद मिलती है और यह आत्मा और परमात्मा के मिलाप का साधन बनती है। मालिक सब कारणों का कारण है। वह सब शक्तियों की प्रधान शक्ति है, और सब शक्तियाँ उसके आसरे चल रही हैं। जो माँगना है उससे माँगो। मालिक के दरबार में किसी चीज़ की कमी नहीं। सब देवी-देवता, फ़रिश्ते आदि नीचे की ताकतें हैं। वे सब कुल-मालिक से ही ताक़त लेती हैं। सब उसके आधीन हैं। फिर माँगना हो तो कुल मालिक से ही माँगो। वह सब कार्य सँवार देगा।

“कीता लोड़ीऐ कमु सु हरि पहि आखीऐ ॥

कारजु देइ सवारि सतिगुरु सचु साखीऐ ॥”

(वार सिरि राग म० १, ९१—५)

सन्तों का बल-भरोसा मालिक ही होता है। वे उसके आगे अरदास करते हैं। उनका सुख-दुख सब उसी के पास है। गुरु रामदास जी फ़रमाते हैं—

“मे ताणु दीवानु तू है मेरे सुआमी मैं तुघु आगे अरदासि ॥

मैं होरु थाउ नाही जिसु पहि करउ बेनती

मेरा दुखु सुखु तुझ ही पासे ॥”

(सूही म० ४, ७३५—२)

छोटी शक्तियों, देवी-देवताओं आदि से माँगना पूर्ण सफलता का

कारक नहीं होता, क्योंकि वे हमको अपनी सीमा की वस्तुएँ दे सकती हैं, पर मुक्ति आदि नहीं दे सकतीं। कुरान शरीफ भी स्पष्ट कहता है कि मदद के लिये सिर्फ अपने रब को पुकारो।

मालिक को तो हमने अभी तक देखा नहीं। जिसको हमने देखा नहीं उसका पक्का भरोसा और विश्वास नहीं होता। जहाँ पक्का भरोसा ही न हो वहाँ प्रार्थना की सार्थकता कैसे? गुरु या मुशिद में परमात्मा का प्रकाश होता है और उसके अन्दर रब बोलता है।

“साध रूप अपना तनु धारिआ ॥”

(मारु म० ५, १००५-८)

“प्रभ जी बसहि साध की रसना ॥”

(गउड़ी म० ५, २६३-४)

अतएव, गुरु से माँगना भी मालिक से ही माँगना है। उनमें मालिक स्वयं काम करता है। वे हर प्रकार से समर्थ हैं। यदि माँगना हो तो मालिक से माँगो, या उसके अवतार सतगुरु से माँगो। उनको छोड़कर और किसी के सामने प्रार्थना का हाथ न पसारो।

प्रार्थना तीन प्रकार से की जाती है। (१) धर्म-पुस्तकों में लिखी हुई या अन्य नियत की हुई प्रार्थनाओं का जबान से ऊँचे-ऊँचे उच्चारण करना। प्रार्थना प्रत्येक अन्तर की अपनी-अपनी आवाज है। जब तक हमारी प्रार्थना का हर एक लफ़्ज़ हमारे अन्तर से नहीं निकलता, उसका हमें बहुत कम लाभ हो सकता है। सन्तों महात्माओं की आदर्श प्रार्थनाएँ हमारे लिये नमूनों का काम देती हैं। परन्तु जब तक उनके लफ़्ज़ हमारे हृदय से अपने भाव बन कर नहीं निकलते, तब तक केवल ऊपरी तौर से, जबान से उन का उच्चारण कर देना हमारे लिये लाभदायक नहीं हो सकता। (२) वह प्रार्थना जो मानसिक रीति से की जाती है। इसमें जबान से बोलने की आवश्यकता नहीं। (३) वह प्रार्थना जो आत्मा या सुरत के द्वारा की जाती है। पहले प्रकार की प्रार्थना से दूसरे प्रकार की अच्छी है और तीसरी किसी विरले को नसीब होती है।

प्रार्थना करने के लिये स्थान

प्रार्थना करने के लिये किसी धर्म-स्थान की आवश्यकता नहीं है, इसके लिये आन्तरिक उभार की आवश्यकता है। सम्पूर्ण धरती ही धर्म-स्थान

है। सब जगह मालिक व्याप्त है। मालिक ने दुनिया बनाई है। वह केवल हमारे हाथों से बनाये हुये मन्दिरों-मस्जिदों में ही नहीं बसता। जिस जगह भी मालिक को याद करो, वही जगह पवित्र है। घर बार, जंगलों, पहाड़ों, उजाड़ों, नदियों, नालों में, जहाँ भी तुम मालिक के आगे झुक गये, वही पवित्र स्थान है।

मालिक से प्रार्थना करने का सच्चा स्थान यह शरीर है, जिसमें कि मालिक बस रहा है।

“हरि मंदर एहु सरीर है गिआनि रतनि परगटु होइ ॥”

(प्रभाती म. ३, १३४६-४)

प्रार्थना करने के लिये कहीं भी जाने की आवश्यकता नहीं। इस शरीर में प्रवेश करके उस मालिक के सामने प्रार्थना करो, और कोई ऐसा एकान्त स्थान नहीं। जिस प्रीतम के आगे प्रार्थना करनी है, वह हमारे अन्दर है। फिर बाहर दौड़ने की क्या जरूरत है।

प्रार्थना की गहराइयों में पहुँचने के लिये फैलाव में ले जाने वाली इन्द्रियों को रोक कर, अन्तर में आत्मा के केन्द्र पर आने की बड़ी आवश्यकता है। प्रार्थना के लिये भगवान के निश्चित होने, बाहर से शरीर और उसके सम्बन्धों से हट कर उसकी उपस्थिति में हाज़िर होने और उस प्रार्थना के हमारे दिल से निकलने की आवश्यकता है। प्रार्थना की स्वीकृति और सार्थकता के लिये शील, सत और सन्तोष को धारण करने की भी आवश्यकता है।

“सतु संतोख होवै अरदासि ॥

ता सुणि सदि बहाले पासि ॥”

(रामकली म. १, ८७८-१३)

प्रार्थना के लिये किसी खास भाषा या शब्दों की आवश्यकता नहीं। वह तो आन्तरिक भावों में पिरोई हुई होनी चाहिये। यदि हमारी प्रार्थनाएं बाहर से बड़ी सुन्दर हों, पर अन्दर से हमारा जीवन गंदा हो, तो वे सब प्रार्थनाएं झूठी होंगी। जो प्रार्थना हमारे आन्तरिक उभार के साथ हो और जो शरीबी, नम्रता तथा प्रेम से रंगी हुई हो, उसे मालिक सुनता है।

यह देखने में आया है कि हमारी सब प्रार्थनाएं स्वीकृत नहीं होतीं। कौन सी प्रार्थनाएं स्वीकृत होती हैं और कौन सी नहीं, प्रार्थना करने में

बौद्धिक या दार्शनिक और अन्तर्मुख कौन कौन सी कठिनाइयाँ हैं, प्रार्थना किस समय करनी चाहिये, प्रार्थना क्या काम करती है और इसका औरों पर क्या असर होता है, गुरु से क्या माँगना चाहिये, प्रार्थना से क्या क्या फल प्राप्त होते हैं—परमपद के जिज्ञासु का कल्याण इसी में है कि पूर्ण सन्तों की उपासना करते हुए उक्त तथ्यों को समझ कर प्रार्थना करे।

विवेक विचार की आवश्यकता

रूहानियत के साधनों के फलदायक होने के लिये विवेक विचार की आवश्यकता है। सत्य को सत्य, असत्य को असत्य जानने, अचल को अचल और चल को चल मानने को विवेक कहते हैं। इसके लिये ऊँची दृष्टि चाहिये। संकीर्णता और हठधर्मी को छोड़कर सत्य को सत्य की दृष्टि से देखो, तो विवेक जाग सकता है। जो व्यक्ति लकीर की फ़कीरी में अटक गया, वह दुनिया में लटक जाता है अर्थात् सारी उमर बाहर-मुखी क्रियाओं में ही अटका रहता है। वह विचार से काम नहीं लेता। उसको सार-वस्तु की समझ नहीं आती। हंस के समान दूध और पानी को अलग-अलग करके, दूध रूपी सार-वस्तु को ग्रहण करो और पानी को छोड़ दो। मौलाना रूम साहिब इस बारे में फ़रमाते हैं कि हमने क़ुरान के मग़ज़ (मूल तत्व) को निकाल लिया है और उसकी हड्डियों को कुत्तों (लड़-लड़ कर मरने वाले लकीर के फ़कीरों, रस्मी बातों के गुलामों, टेकी पुरुषों और वितण्डावादियों) के आगे फेंक दिया है।

“मन ग़ज़ कुराँ मग़ज़ रा बरदाश्तम,
उस्तखा पेशे सगाँ ग़न्दास्तम ॥”

साधक को चाहिये कि वह असली और ज़रूरी बात को तोले और नक़ली या ग़ैरज़रूरी बात को छोड़ दे। पेड़ के पत्तों को पानी देने का श्रम व्यर्थ है। इससे पेड़ के सूख जाने का डर है। उसकी जड़ में पानी दो, ताकि वह हरा-भरा रहे। सबके मूल सच्चे नाम और गुरु को पकड़ लो। सब जप-तप, तीर्थ-व्रत, दान, मौन आदि कर्म-धर्म इसमें आ जाते हैं। विवेक से रहित होने पर हमारे अन्दर मुर्दा-परस्ती का रिवाज आ जाता है।

साधक को सत्य और असत्य पदार्थों का निर्णय करके सत्य को ग्रहण करना चाहिये और असत्य को गुज़ारे के लिये, बुद्धि से काम लेकर, उपयोग करना चाहिये। हरएक काम सोच-विचार कर करो। कोई ऐसा

काम न करो जिससे बाद में पछताना पड़े। मालिक या सतगुरु भी बुद्धि विचार के साथ की हुई सेवा पर प्रसन्न होता है। इसके द्वारा मनुष्य को मान मिलता है और वह अशरफुल मख्लूक़ात (सम्पूर्ण सृष्टि का शिरोमणि) कहलाता है। विवेक* विचार मालिक को समझने में सहायक होते हैं। किसी को दान देते समय भी इससे काम लेना चाहिये। गुरु नानक साहिब फ़रमति हैं कि जो कार्य भी विवेक-विचार के बग़ैर किये जाते हैं, वे कार्य सब शैतानी काम बन जाते हैं।

“अकली साहिबु सेवीऐ अकली पाईऐ मानु ॥

अकली पढ़ि कै बुझीऐ अकली कीचै दानु ॥

नानकु आखँ राहु एहु होरि गलाई सैतानु ॥”

(सारंग वार म. १, १२४५-३)

गुरु अर्जुन साहिब ने मालिक से यही प्रार्थना की है कि हे मालिक ! मुझे बुद्धि-विवेक दे। पाठ पढ़ने से या ग्रंथों-पोथियों का विचार करने से या हठयोग की क्रियाओं (न्योली-आदि) के साधन द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार से छुटकारा नहीं हो सका। मैं अनेकों ही साधन करके हार कर तेरे द्वार आ पड़ा हूँ। तुम विवेक-विचार का दान दो, क्योंकि इसके बिना वे सब साधन मुक्ति की जगह उलटे बन्धन के कारण बन जाते हैं।

“पाठु पढ़िओ अरु बेदु बीचारिओ निबलि भुअंगम साधे ॥

पंच जना सिउ संगु न छुटकिओ अघिक अहंबुधि बाधे ॥१॥

“पिआरे इन बिधि मिलणु न जाई मैं कीए करम अनेका ॥

हारि परिओ सुआमी कै दुआरै दीजै बुधि विबेका ॥”

(सोरठि म. ५, ६४१-१७)

कोई कोई गुरुमुख ही विवेक-विचार के द्वारा मालिक को सत् जानता है और उसके साथ प्रेम करता है, जिससे मन का अभिमान समाप्त हो जाता है। हमको इस बात का विचार करना चाहिये कि कूड़ की मैल हमारे ऊपर

*हां, चतुराई इस मार्ग में रुकावट का कारण बनती है। इसको सयानापन भी कहते हैं। यह वह प्रकल है जिसका मुंह दुनिया-परस्ती की ओर है और जो निजी लाभ के लिये दूसरों के अधिकारों को कुर्बान कर देना उचित समझती है। चतुर की जबान पर कुछ और होता है तथा दिल में कुछ और, पर अपनी चतुराई के कारण वह लोगों को अपने अंदर का पता नहीं लगने देता। उसका दीन और ईमान दुनिया ही बनी रहती है।

से कैसे उतरे। बिना विवेक-विचार के मालिक की अप्ति नहीं हो सकती।
मूर्ख लोग इसके बिना वृथा जन्म गंवा जाते हैं।

इस सच्चे विचार का पता हमें सन्तों की संगति से ही मिल सकता है।
हुजूर स्वामी जी महाराज कर्मति हैं कि यदि तुम इस जगत से तरना चाहते
हो तो सन्तों के पास बैठ कर विचार करो।

“जो जग से तुम उवरा चाहो, संतन करो विचार ॥”

गुरु नानक साहिब बतलाते हैं कि वह सन्तों का विचार क्या है। यही
कि इस संसार में सच्चा 'वक्खर', सच्चा व्यापार और सच्चा लाभ, नाम
की कमाई है।

“सच्चा वक्खर नामु है सच्चा वापारा ॥
लाहा नामु संसारि है गुरुमती वीचारा ॥”

(मार्क म. १, १००९-६)

विवेक विचार वाला मनुष्य देखता है कि नाम सच्चा है, गुरु सत्य है
और आत्मा—जो मालिक का अंश है—सत्य है। सन्त महात्मा सबकी समान
रूप से सम्पत्ति है। बाकी सब रीति-रिवाज उनको जानने और उनके साथ
संबंध बनाने के लिये हैं। एक मालिक सब का पिता है और सम्पूर्ण मनुष्य-
जाति उसकी संतान है। उनका आपस में भ्रातृ-भाव होना चाहिये।

सन्तों का मार्ग 'सुरत शब्द योग' के अभ्यास का है। इससे 'जीते जी
मरने' की गति प्राप्त होती है, जिससे जीव हरि से मिल सकता है, यह गति
गुरु से प्राप्त होती है। इसलिये गुरु की सेवा और पूजा, उसके भय और
भाव, भक्ति, विरह और प्रेम की आवश्यकता है। इन गुणों का बोध और
इनकी प्राप्ति गुरु की संगति या सत्संग से होती है। यह परमार्थ की संपत्ति
नम्रता के भाव के द्वारा मिलती है और निरन्तर बनी रहती है। इन गुणों
की प्राप्ति के लिये गुरु के सम्मुख प्रार्थना करना आवश्यक है। सब साधन
तब तक ही फलते हैं जब तक कि उन साधनों के अभ्यास में विवेक-विचार
से काम लिया जाता है।

सुरत शब्द योग में सफल होने के गुण

सुरत शब्द योग मालिक से मिलने का सब से सुखी और प्रबल साधन
है। उस में सफल होने के लिये यह आवश्यक है कि साधक सबसे पहले

अपने आप को गुरु के हवाले कर दे। तन, मन, धन सब सौंप कर, जो आज्ञा गुरु दें उसके पालन में लगा रहे और अपने अन्दर नीचे लिखे दैवी गुण धारण करे।

(१) मालिक दयाल है और वह गुरु में प्रकट है। इसलिये वह दया का रूप है। जिज्ञासु के मन में दया का भाव होना आवश्यक है। दया के होने पर वह सब पर रहम करेगा। औरों के दुःख को देख कर उसका दिल द्रवित हो पानी पानी हो जायेगा, वह दूसरों के दुःख को बँटायेगा और किसी का दिल न दुखायेगा। वह मन, वचन और कर्म से अहिंसा को धारण करेगा। सबका भला सोचेगा। किसी के साथ गाली-गलौच करके जबान को गन्दा नहीं करेगा और अपने कर्मों से किसी के दुःख का कारण न बनेगा। उसकी बोली में मिठास भरी रहेगी। ऐसे दयावान हृदय से धर्म की उत्पत्ति होती है।

“धौलु घरमु दइआ का पूतु ॥ संतोख थापि रखिआ जिनि सूति ॥”

(जपुजी साहिब, ३-१३)

ऐसा पुरुष सदा हंसमुख और प्रसन्न चित्त रहता है। उसके अन्तर से सारे संसार के लिये भलाई के विचार निकलते हैं।

“नानक नाम चढ़दी कला ॥ तेरे भाणे सरबत्त दा भला ॥

(२) जिसमें दया का भाव है, उसमें क्षमा का गुण भी आ जाता है। किसी की भूल और अपराध को क्षमा कर देने से क्लेश का बढ़ना रुक जाता है। क्षमा के होने से मनुष्य शान्ति और खुशी का भागी बनता है।

(३) साधक को सत, सन्तोष और दया को धारण करना चाहिये, जो सब करनी का सार है। सन्तोष के होने पर मनुष्य दूसरों की उन्नति देख कर भी अपनी गरीबी में सन्तुष्ट रहता है। उसकी नज़र किसी पराये की दौलत की ओर नहीं होती। वह अपने हाथों से परिश्रम करके, अपनी गरीबी में सदा खुश रहता है। सन्तोष के आने से चाह मिट जाती है और चाह के साथ ही चिन्ता भी जाती रहती है। जहाँ सन्तोष वास करता है, वहाँ सब बरकतें आ निवास करती हैं।

(४) सत्य को अपने अन्तर में धारण करो। जिसमें सत् का निवास हो वह सत्-स्वरूप हो जाता है। मालिक सत्य है। इसलिये उसको सत्य ही

अच्छा लगता है। सच बोलने के साथ-साथ अपने कार्य-व्यवहार में भी सच का वर्तवि करो। अपने विचारों में सत्य का ही आदर्श रखो अपना आचरण भी सच का ही रहे। जिसकी सुरत सच्ची है उसका सब कार्य-व्यवहार सच्चा होता है। ऐसा मनुष्य आठों पहर मालिक के साथ जुड़ा रहता है। उसका एक प्रकार से सच के साथ सम्बन्ध हो जाता है। वह सदा निडर रहता है। वह आप सच पर चलता है तथा औरों को उस मार्ग पर चलाता है। पर यह ध्यान रहे कि सच बोलने में दया का भाव बना रहे और किसी के दिल को न दुखाया जाय।

(५) साधक के लिये खुशखुल्क (सुशील), शीरीं कलाम (मधुर-भाषी) और हँसमुख होना आवश्यक है। इसमें इन्सानी शान हैं। यदि कोई धनवान है, तो अपने लिये है। पर इन गुणों का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है। सब के साथ प्रेम-पूर्ण व्यवहार रखना चाहिये। इसमें दोनों लोकों में सुखी रहने का गुर है।

(६) मालिक और सतगुरु दाता है। सब कोई उससे दान पाते हैं। हम सब एक ही मालिक-पिता के बच्चे हैं। वह जो कुछ दे रहा है, उस पर सबका हक है। दुखियों, दीनों, अनाथों और मोहताजों के साथ बाँट कर खाओ। हम सब साझीदार हैं। दान देना दया के भाव द्वारा ही हो सकता है। दानी के अन्तर में दया बसती है। वह सदा उदार-चित्त रहता है। सब धर्मों में प्राचीन काल से दशमांश और जकात (आमदनी का चालीसवाँ हिस्सा) का दान में देना चला आया है। दान देने से कुछ घाटा नहीं होता। दान देने में ही इस देह की शान है। जब तक यह देह है, मनुष्य को चाहिये कि देता ही रहे और दूसरों का दुःख हरता रहे। पर खेत को पहचान कर दान रूपी बीज बोना चाहिये। दान ऐसे जरूरत-मन्दों, मोहताजों और अनाथों को देना उचित है जो कुकर्मों में प्रवृत्त न हों। जो अपने हाथों की मेहनत से कमा कर ऐसे जरूरत-मन्दों के साथ बाँट कर खाता है, वह मालिक के दर पर स्वीकृति पाता है। पर ऐसा दान लेने वाले के लिये भी आवश्यक है कि वह केवल गुजारे के लिये ही लेवे।

(७) साधक के लिये शौच यां पवित्रता की आवश्यकता है। शरीर; वस्त्र, गृह आदि की सफ़ाई भी रखी जाये। साथ ही मन-इन्द्रियों का दमन

करके और नाम से लगकर आन्तरिक पवित्रता को भी धारण किया जाये। मालिक के भजन के लिये हलाल की रोजी की आवश्यकता है, जिसमें किसी का खून निचोड़ा हुआ न हो। संयम सहित सात्विक भोजन किया जाये और शुद्ध आचार का विशेष कर ध्यान रखा जाये। शील को धारण किये बिना कोई कार्य, क्या सांसारिक और क्या पारमार्थिक, नहीं फलता।

अतएव, पूर्ण पवित्रता के लिये शुद्ध व्यवहार, शुद्ध आहार और शुद्ध आचार या शील को धारण करना अत्यन्त आवश्यक है।

जब साधक अपने आप को, बाँसुरी की तरह, सब वासनाओं से खाली कर देता है और ऊपर दिये गुणों से सुशोभित होकर सुरत शब्द योग के इन साधनों का अभ्यास करता है, तो सतगुरु (मालिक) उसकी शरीर रूपी बाँसुरी में प्रेम-पूर्वक अपना जीवन-दान फूँकता है और उससे मालिक की सुरीली तानें और स्वर सुनाकर संसार को ब्रह्दानियत (ईश्वरीयता) की मस्ती के प्याले पिलाता है।

‘गुरुमत सिद्धान्त’ ग्रन्थ में ऊपर लिखे परमार्थ के स्वभाविक और अटल साधनों का वर्णन किया गया है, जिनकी गुरुमुख होकर कमाई करने से हम भी उन आत्मिक ऊँचाइयों को पा सकते हैं जहाँ कि ऋषि-मुनि, नबी, रसूल और सन्त-महात्मा पहुँचे हैं।

अन्तिम विनती

संसार के सब पदार्थ यहीं रह जाते हैं, वे अनित्य हैं। सारी उम्र हम इन में ही लिप्त रहते हैं। मालिक नित्य है, अविनाशी है। शरीर (जो अनित्य है) और आत्मा (जो मालिक का अंश होने के कारण नित्य है) के मेल का नाम मनुष्य है। शरीर आत्मा के बरतने या उपयोग के लिये है और जगत का सम्बन्ध इस शरीर के कारण ही है। इसके पालन-पोषण के लिये धन्धा करो। इस शरीर की शोभा आत्मा से ही है। शरीर का मान और महत्व केवल उसी समय तक है जब तक कि आत्मा का इस में वास है। जहाँ हम दिन-रात शरीर के कार्य व्यवहार में जुटे रहते हैं, वहाँ हमारे लिये आत्मा के अनुभव और उसकी उन्नति के लिये समय देना भी उचित है। हम शरीर तथा और विद्याओं के बारे में बहुत कुछ जानते हैं पर अपने आप के बारे में बिल्कुल ही कुछ भी नहीं जानते। सन्तों-महात्माओं के

पास बैठ कर हमें यह समझ आती है कि मरना सच है और जीवन मिथ्या है। आयु दिनों दिन घट रही है। हरएक दिन, हरएक घण्टा, हरएक मिनिट और हर सैकिण्ड हमें मृत्यु के निकट ला रहा है।

यह संसार रहने की जगह नहीं। हर जीव को अपनी-अपनी अवधि समाप्त होने पर यहाँ से जाना पड़ता है इसके मनमोहक कुसुम्भी रंग को देख कर भूलना नहीं चाहिये। मृत्यु के समय जब आत्मा शरीर से निकलती है तब तन-धन आदि किसी पदार्थ का तिनके समान भी मूल्य नहीं रहता। जीवन के मूल्य का प्रश्न है, हमको निश्चय-पूर्वक मालिक के साथ मिलना है। नाम के साथ जुड़ने से आत्मा और शरीर की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। इस देह में केवल आत्मा ही सार-मय और अमर पदार्थ है, उसको पहचानने की चिन्ता करो। नाम अनमोल वस्तु है। सतगुरु से वह नाम लेकर मनुष्य जीवन को सफल करो, जो लोक-परलोक दोनों में सहायक होता है। मनुष्य जन्म-दुर्लभ है और यह मालिक से मिलने का अवसर है। जो कार्य हम करते हैं वे सब शरीर और उसकी आसक्तियों से सम्बन्धित हैं। इन धन्धों में से हमारी आत्मा के काम आने वाला कोई भी नहीं। इसके काम आने वाली वस्तु केवल साध-संगति है, जिससे नाम की प्राप्ति होती है। इसलिये सनुष्य-जन्म को मालिक की भक्ति में लगा कर इससे लाभ उठाओ।

“भई परापति मानुख देहुरिआ ॥
गोबिंद मिलण की एह तेरी बरीआ ॥
अवरि काज तेरे किते न काम ॥
मिलु साध संगति भजु केवल नाम ॥”

(ग्रासा म. ५, ३७८-१)

दासन् दास,
सावन सिंह

GURUMAT SAAR

VOL. II

Radha Swami Satsang, Beas